ISSN 3107-8583
अंक 1, भाग 1, (अक्टूबर-दिसंबर) 2025
प्रथम वर्ष, त्रैमासिक पत्रिका
प्रकाशन : 21 जनवरी 2026

लोक-संस्कृति

पीयर रिव्यूड बहुविषयक ऑनलाइन ई-शोध पत्रिका

www.loksanskruti.in

लोक-संस्कृति

लोक में उत्पत्ति और सर्जना

ISSN 3107-8583

लोक-संस्कृति
पीयर रिव्यूड बहुविषयक ऑनलाइन
ई-शोध पत्रिका
https://www.loksanskruti.in

विशेषांक
लोक में उत्पत्ति और सर्जना

अतिथि संपादक

डॉ. शोभा सिंह

संपादक

नीलिमा गुर्जर
डॉ सत्या सोनी
डॉ सीमा सूर्यवंशी
डॉ. नमिता साहू
स्वाति आनंद

ISSN 3107-8583

लोक-संस्कृति
पीयर रिव्यूड बहुविषयक ऑनलाइन
ई-शोध पत्रिका
अंक-1,भाग-1 अक्टूबर-दिसम्बर 2025
प्रथम वर्ष त्रैमासिक पत्रिका
https://www.loksanskruti.in

संपादन मंडल
डॉ पूजा सक्सेना
डॉ विभा ठाकुर
डॉ गौरव गुप्ता
गणेश तुमड़ाम
डॉ करण सिंह
डॉ.अनिता सोनी
राजेन्द्र मालवीय

विधि सलाहकार
एडवोकेट नीलिमा गुर्जर

आकल्पन
सिद्धार्थ त्रिपाठी
आवरण चित्र
श्री नीरज बेगड़

प्रकाशक
https://www.loksanskruti.in
Email : loksanskrati@gmail.com
Cont. : 9425303357

इस पत्रिका में प्रकाशित सामग्री स्वयं लेखकों के उत्तरदायित्वाधीन है।

ISSN 3107-8583

लोक में उत्पत्ति और सर्जना
विशेषांक

संपादक मंडल

अतिथि संपादक
डॉ शोभा सिंह
वरिष्ठ लेखिका , गुना

डॉ. नमिता साहू
सहायक प्राध्यापक एवं विभागाध्यक्ष हिन्दी
पीएम कालेज ऑफ एक्सीलेंस स्वामी विवेकानन्द शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, नरसिंहपुर

नीलिमा गुर्जर
स्वतंत्र अध्येता, भोपाल

डॉ सीमा सूर्यवंशी
सहायक प्राध्यापक
प्रधानमंत्री कॉलज ऑफ एक्सीलेंस शासकीय स्वशासी स्नातकोत्तर महाविद्यालय, छिंदवाड़ा

स्वाति आनंद
व्याख्याता, स्कूल शिक्षा विभाग, छत्तीसगढ़

डॉ. सत्या सोनी
सहायक प्राध्यापक हिन्दी
प्रधानमंत्री कॉलेज ऑफ एक्सीलेंस शासकीय महाविद्यालय, सागर

सम्पादकीय

लोक में उत्पत्ति एवं सृजन का मंगलाचरण

लोक-संस्कृति समूह की विद्वत्परीषदों एवं लोक-संबंधी गहन विमर्शों से प्रेरित होकर यह निर्णय लिया गया था कि लोकहितार्थ एक समृद्ध कोष संजोया जाए जिससे लोक-व्यापी भारतविद्या के विविध महत्वपूर्ण विषय वैश्विक पटल पर प्रकाशित हो सकें। इस लोकहितकारी उपक्रम का प्रारंभ शिव-संकल्प से किया गया जिसका सुफल यह प्रथम पुष्प लोकधारा में प्रवाहित करते हुए हम विनत हैं। लोक-संस्कृति ई-पत्रिका के प्रथम अंक का केंद्रीय विषय 'लोक में उत्पत्ति एवं सर्जना' रखा गया। पत्रिका का स्वरूप शोध-पत्रिका के मानकों से पूर्णतः सुसज्जित रखने के साथ चयनित मातृशक्ति को संपादन का दायित्व सौंपा गया। संपादक समूह की सभी मातृकाओं ने श्रमनिष्ठ प्रयास कर सामग्री का चयन एवं परिष्कार किया। लोकसाहित्य के वरिष्ठ अध्येताओं का आशीर्वाद हमें आलेख स्वरूप प्राप्त हुआ एवं विषय संबंधित अपार संभावनाएं भी दृष्टिगोचर हुई। लोकनिष्ठ साधकों एवं शोधार्थियों से जहाँ भाषा के वैज्ञानिक एवं शास्त्रीय शोधालेख प्राप्त हुए वहीं लोकगीतों तथा विविध जनजातीय मान्यताओं में उत्पत्ति के प्रतीकों का विधान भी प्राप्त हुआ।

मनुष्य और प्रकृति को परस्पराकांक्षी युग्म के रूप में प्रतिष्ठित करना ही लोकजीवन का मूल मंत्र है और सृष्टि-चक्र को पथभ्रष्ट होने से बचाए रखना उसका परम उद्देश्य। उत्पत्ति एवं सृजन की कथाएँ शब्द एवं अर्थ में जमाजोट होकर अतीत के सत्य की ओर संकेत करती हैं। सृजन का प्रथम स्पर्श, संरक्षण का प्रथम संस्कार और संवेदना की प्रथम भाषा; इतिहास और परंपरा में यह सब स्त्री के माध्यम से ही प्रकट हुआ है। भारतीय चिंतन में 'प्रकृति' को आदिशक्ति कहा गया है, वही शक्ति जो निराकार को आकार देती है, निस्तब्धता को स्वर देती है और संभावना को अभिव्यक्ति में रूपांतरित करती है। ऐसे में 'उत्पत्ति एवं सर्जना' विषयक इस संपादकीय कार्य में मातृशक्ति की सहभागिता को प्राथमिकता देना वस्तुतः विषय की आत्मा के प्रति निष्ठा का ही विस्तार है। इस अवसर पर हम निर्देशक मंडल के प्रति हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करते हैं, जिन्होंने इस विचार को न केवल स्वीकार किया, बल्कि पूर्ण विश्वास और सहयोग के साथ इसे साकार करने का अवसर प्रदान किया। उनके दूरदर्शी मार्गदर्शन, वैचारिक समर्थन और नैतिक संबल ने इस संपादकीय उपक्रम को सार्थकता प्रदान की है। उनके प्रति हमारा यह आभार केवल औपचारिक नहीं, बल्कि सृजनात्मक साझेदारी का विनम्र स्वीकार है I इस अंक की सृजनयात्रा में शक्तिस्वरूपा डॉ. पूजा सक्सेना, डॉ. नीलिमा, डॉ. नमिता साहू, सुश्री स्वाति आनंद, डॉ. सत्या सोनी, डॉ.सीमा सूर्यवंशी का आत्मीय सहयोग अभिनंदनीय है जिसके लिए किसी भी लिपि में आभार लिखकर इस नेहबंध का मान न्यून नही किया जा सकता। मातृशक्ति को मैं नतशीश कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ। हम श्री नीरज वेगड़ जी के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं कि उन्होंने इस सार्थक और अर्थगर्भित आवरण-छवि को उपलब्ध कराकर पत्रिका के विषय को एक सजीव आयाम प्रदान किया। साथ ही, इस अंक के संयोजन, रूपांकन, तकनीकी संपादन और मुद्रण-प्रक्रिया में सहयोग देने वाले समस्त तकनीकी विशेषज्ञों एवं सहयोगियों के प्रति भी हम कृतज्ञ हैं, जिनके महती परिश्रम एवं दक्षता से यह उपक्रम पूर्णता को प्राप्त हुआ। यह अंक सृजन-यात्रा का प्रारंभ बिंदु है जिसे सिंधु सा विस्तार लोक ही प्रदान करेगा। यह लोक-संस्कृति पत्रिका का पहला पग है। इसकी लोक-हितैषी यात्रा निरंतर विस्तार ग्रहण करे, यही प्रार्थना है। शुभमस्तु

शोभासिंह

डॉ. शोभा सिंह

अनुक्रमणिका

1.	सम्पादकीय	डॉ. शोभा सिंह	iv
2.	सृष्टि उत्पत्ति : जनजातीय और वैदिक मान्यताएँ	डॉ. श्रीराम परिहार	1
3.	पुराणों में उत्पत्ति और प्रकृति	डॉ. श्रीकृष्ण ‘जुगनू’	4
4.	धरती और बीज : भारतीय ज्ञान परंपरा	डॉ. राजेंद्र रंजन चतुर्वेदी	7
5.	उत्पत्ति और लोककथा अंतर्संबंध	डॉ. दीपा दत्तात्रय कुचेकर	9
6.	जमाल कमाल शब्दों पर गाथा-विमर्श	अजीत बडनेरकर	12
7.	शब्द, नाद एवं भाषा की उत्पत्ति	सिद्धार्थ तिवारी	15
8.	लोक में प्रमुख मान्यताएँ एवं परम्परा	डॉ. भुवनेश्वर दूबे	18
9.	प्रकृति, शक्ति और स्त्री	नीलू शेखावत	21
10.	विष्णु का विशिष्ट गण्डभेरुण्ड पक्षी अवतार	प्रो. आर.एन. विश्वकर्मा	23
11.	छत्तीसगढ़ी लोकगीत और सुआ	डॉ. लूनेश कुमार वर्मा	25
12.	देव-कथाओं की भाषा	डॉ. आलोक कुमार सिंह	28
13.	नृत्त और नृत्य की उत्पत्ति	डॉ. ओम प्रकाश लाल श्रीवास्तव	31
14.	लोक वाद्यों की उत्पत्ति की कथाएँ	डॉ. संगीता सिंह	32
15.	बैनगंगा : उत्पत्ति एवं अनुष्ठान	डॉ. लक्ष्मीकान्त चंदेला	35
16.	सहरिया जनजाति ऐतिहासिक एवं पौराणिक	डॉ. योग्यता भार्गव	37
17.	भारतीय वाङ्मय में भाषा की उत्पत्ति	डॉ. आशुतोष उपमन	40
18.	भारिया जनजाति : उत्पत्ति कथाएँ	टीकमणि पटवारी	43
19.	महासू देवता : एक न्यायाधीश	श्रीमती रेखा खत्री रौथाण	45
20.	लोक में उत्पत्ति और सर्जना	हर्षुल रघुवंशी	48
21.	छठ पूजा : उत्पत्ति और लोक चेतना	चंचल ओझा	50
22.	जनजातीय पर्व कर्मा : उत्पत्ति और महत्व	डॉ. अलका यादव	52
23.	बुन्देली लोकगीतों में देवी-देवताओं की उत्पत्ति	डॉ. सीमा सूर्यवंशी	56

सृष्टि उत्पत्ति : जनजातीय और वैदिक मान्यताएँ

डॉ. श्रीराम परिहार

सृष्टि की उत्पत्ति कैसे हुई? इस संबंध में ऋषि-चिंतन से लेकर साधारण मनुष्य की बुद्धिधारा में अनेक प्रश्न अपने उत्तर पाने को आकुलता में डूबते-उतराते रहे हैं। सृष्टि का बहुलांश प्रत्यक्षतः दिखाई देने के बावजूद पूर्णतः प्रत्यक्ष नहीं है। जो प्रत्यक्ष है, वह भी अपनी प्रकृत शक्ति से अनेक विस्मयों, सौंदर्यों और आकर्षणों का नित-नूतन सर्जन करता रहता है। सृष्टि स्थित शक्ति, इस नूतन-सर्जन और परिवर्तन के पार्श्व में आद्य शक्ति बनकर बैठी है। वह भय कम पैदा करती है। विस्मय अधिक रचती है। वह परमसत्ता की इच्छा के क्रियात्मक परिणाम में यह सब करती है। इसीलिए प्रकृति हमेशा अजेय है। सृष्टि और प्रकृति मिलकर ही परम सुन्दर, परम आकर्षक और परम भयानक की रचना करती है। यह ठीक है, लेकिन सृष्टि और प्रकृति के अन्तस में या परे क्या कोई परमसत्ता या परमप्रकृति है? मन, चित्त, बुद्धि इसे लेकर प्रश्नाकुल बने रहते हैं। अहंकार उन्हें अशान्त किए रहता है। उत्तर मिलते नहीं। अधूरे उत्तरों से अहंकार शमित होता नहीं। धर्म, दर्शन, तर्क, बुद्धिबल के प्रकाश में रहस्यों को भेदकर सत्य के अधिकाधिक निकट पहुँचने का सद्प्रयास किया जाता है। अनुभवों, विश्वासों, आस्थाओं और मिथकों की रवि-किरणों की पीताभ ज्योति में सृष्टि और प्रकृति के जन्म और केलि-क्रीड़ाओं के उत्सवों को कभी विस्मयों और कभी सम्मोहनों से सटकर टुकुर-टुकुर, टक-टक देखा जाता रहा है।

सृष्टि में जीवन का अंकुरण कब और कैसे हुआ? धरती पर मानव का जन्म हुआ या किसी जीवाणु की विकास-प्रक्रिया अपनी चरम-उत्तम स्थिति की रचना कर गई? प्रकृति की गोद में मनुष्य ने अपनी शारीरिक संरचना की उत्कर्ष अवस्था प्राप्त की या मिट्टी अथवा मैल के लौंदों को सुघढ़कर किसी ज्ञात-अज्ञात चमत्कारिक परम सत्ता ने उन्हें प्राणत्व से पूरित कर प्रकृति के निसर्ग-प्रांगण में नन्हें-नन्हें पाँवों से क्षितिज के पार जाकर अमरता का वरदान पाने हेतु छोड़ दिया। कितने-कितने उजले दिन उन पाँवों में उत्साह और उम्मीदें भरते रहे। कितनी-कितनी काली-उजियारी रातें उन पाँवों की थकान मिटाती रहीं। मानवशास्त्र और समाजशास्त्र कभी धर्मशास्त्र की सारस्वत नदी के किनारे बैठ प्रज्ञालोक से इसका अनुमान पूछते रहे हैं। कभी दर्शन की शिला पर बैठकर ठोस और कठोर तर्कना द्वारा काल की अभेद्य नीली गहराई में से उत्तर जैसा कुछ सार्थक पाने की कोशिश करते रहे हैं। परंतु इतने श्रम, इतने प्रयत्न, इतने प्रज्ञा-उपक्रम मनुष्य के एकमात्र आदि-पुरखे का नाम-पता, घर-बार न ठीक-ठीक समझ सके हैं और न ही जान सके हैं। प्रज्ञा और मेधा दोनों अभी भी इस तथ्य की खोज-यात्रा पर हैं।

भारत भूमि का निसर्ग मनुष्य का पालना रहा है। भारत भूमि की आदि सन्तानों ने अनुभव, आस्था और विश्वास के साथ उद्घोष किया, 'माता भूमिः, पुत्रोऽहं पृथिव्याः। यह भूमि मेरी माँ है, मैं उसका पुत्र हूँ। उसी भूमि माता ने मानव को प्रकृति के पालने में झुलाया, गोदी में सुलाया। अपनी छाती से निपजे दूध भरे अन्न को खिलाया। नदी, नद, निर्झर का जल पिलाया, अरण्यों में बसाया, जीवन को मूल्यों से सजाया, चिंतन की राह पर चलाया, सप्तदीप- नवखण्ड पृथ्वी के बीच गुण-सम्पन्न कर बैठाया, तीन लोक, चैदह भुवन, सप्त पाताल में संचरित सत्य को दिखाया। ऐसी भूमि और ऐसे पृथ्वी -पुत्र विश्व-कुटुम्ब की संरचना और सर्जना में अपने कर्म के बीज बोते रहे। उन्होंने पत्थरों में भगवान् देखा। नदियों में माँ का ममत्व परखा। वृक्षों में अपने पुरखों का रूप देखा। गाय के रोम-रोम में देवत्व का वास देखा। त्याग में भोग की आकांक्षा को फलित देखा। जल में कमल की तरह जीने को असल जीना माना। शब्द की साधना करते हुए अक्षरं-ब्रह्म तक पहँच गये। इतने पर भी तन पर लँगोटी लगाये आत्मा के प्रकाश में अरण्यों में उभाने पाँव चलते रहे। मिट्टी के स्पर्श से अनुभव की पावनता को माँजते रहे। परदुःखकातरता में आत्मोत्सर्ग का प्रकाश बिन्दु पाते रहे। प्रकृति की गोद में निश्छल प्राकृत जीवन जीते रहे।

जीवन को रचने, संभालने और जीने की जुगत में बहुत कुछ बाहरी अनावश्यक छूटता जाता है। मूल्य बचे रहते हैं। जीवनबोध और मानुषभाव संग साथ चलते- चलते निविड क्षणों में ढाढ़स बँधाते हैं। जिनके पास मूल्य जीवनबोध और मानुषभाव सघन और तरल हैं, वे भारतपुत्र मानव जीवन, मानव विकास और मानव संस्कृति के सच्चे प्रतिनिधि हैं। हमारे पूर्वज भी हैं। वे ही हमारे आदिम बड़, पीपल, नीम और तुलसी हल्दी सरीखे प्राणत्व से पूरित पीयूष स्रोत हैं। बौद्धिक अतिवादिता की नासमझ ने जिन्हें आदिवासी वनवासी, जनजातीय सम्बोधन दे डाले हैं, वास्तव में वे ही मूल निवासी हैं। सभ्यता, संस्कार, संस्कृति की रेखाओं में आचरण, ज्ञान, गुण और सहज आत्मविस्तार के रंगों से स्तर-भेद स्वाभाविक रूप से हुआ। श्रेष्ठता परिलक्षित करने वाला सम्बोधन आर्य हो गया। साथ ही भूगोल और मौसम ने इन भारतीय मानव-समाज के सिंह के चार मुख रच दिए और समाज रूपी सिंह के चार मुखों –आर्य, द्रविड़, किरात, और निषाद के दर्शन विश्व-समाज करने लग गया। सारनाथ के अशोक-स्तम्भ की चतुर्मुखी सिंह प्रतिमा के प्रतीक-सन्दर्भ भारतीय समाज से जुड़े हैं।

मानव की उत्पत्ति की आदि गौ भूमि भारतवर्ष है, ऐसा ज्ञान-विज्ञान दोनों कहते हैं। सृष्टि के सौंदर्य से जीवन के सारत्व का समन्वय और सामरस्य करने का आदि स्रोत भी यहीं प्रकटा। संस्कृति की शारदीया चाँदनी पहले- यहीं छिटकी। मनुष्य ने सामाजिकता के अध्याय रचे। उसके केंद्र में परिवार को बैठाया। परिवार भारतीय समाज की धुरी बना। सम्पूर्ण भारतीय समाज परिवार के केन्द्र से विश्व की परिधि की ओर प्रसार पाता गया। प्रसरणशीलता की प्रक्रिया और प्रभाव के परिणाम में भारतीय समाज के चार मुखों से अनेक मुख हो गये। यह सहस्रशीर्षा पुरुष की तरह आर्य, द्रविड़, किरात, निषाद, यक्ष, किन्नर, गंधर्व, सुर, असुर, नाग, कोल, मुंडा, गोंड, कोरकू, भील, बैगा, खासी, परधान, पनिका, औराँव, पाण्डों, माँझी, मँझावार आदि-आदि मुखों से बोलने और व्यवहार करने वाला हो गया। इनके भी अनेक गोत्र और उपगोत्र हैं। नाम-उपनाम हैं। लेकिन विकास का यात्रापथ प्रकृति से संस्कृति की ओर बढ़ते रहने वाला रहा है। प्रकृति रहस्यमयी कम, सहचरी या मातृस्वरूपा अधिक रही है। प्रकृति के सान्निध्य में ही सृष्टि की उत्पत्ति संबंधी आतुरताओं का समाधान खोजा गया है।

इस भूमिका के आधार पर यह स्पष्ट है कि मानव के जैविक और मानसिक विकास की प्रक्रिया में ऐसा नहीं हुआ कि भारतीय आदिम समाज का एक हिस्सा अपने मूल से उच्छेदित होकर अलग-थलग सभ्य और आधुनिक कक्षों के भीतर चला आया हो, और दूसरा अरण्यवासी रहकर

अपनी प्रकृति की कोठरियों में धँसकर रह गया हो। सृष्टि के विकास की परिवर्तनशील प्रक्रिया में भी आदि बिन्दु पर उत्पन्न वृक्ष अब भी वृक्ष, नदी अब भी नदी, आकाश अब भी आकाश, धरती अब भी धरती, पक्षी अब भी पक्षी, अन्न अब भी अन्न, अग्नि-वायु-जल सब अब भी अग्नि, वायु, जल ही बने हुए हैं। इनका कम-ज्यादा रूपान्तरण होता रहता है, लेकिन मूल प्रकृति अपरिवर्तनीय, अक्षुण्ण और अपराजेय है। तब मनुष्य, जो कि अखिल सृष्टि का ही एक सदस्य है, अपने विकास और परिवर्तन की सदयात्रा में मूलोच्छेदित कैसे और क्यों कर हो सकता है? ज्ञान और चिन्तन के स्तर हो सकते हैं, लेकिन मानव स्वभाव और रुचि-प्रकृति तो रुधिर की तरह सबमें समान संचरित और विद्यमान है। विवेक के हाथों थमी वल्गाएँ उनकी गति, दिशा और विचलन-फिसलन को नियन्त्रित करती रहती है। इसलिए जनजातीय समाज या वनवासी समाज भारतीय शेष समाज से अलग है; यह भ्रान्त और निर्मूल धारणा है। पारिस्थितिक और भाषाई भेद तो सम्भव हैं, लेकिन जैविक और सांस्कृतिक भेद स्वीकार नहीं किये जा सकते हैं।

मन और मस्तिष्क मनुष्य की चेतना के सर्वाधिक सक्रिय भाग हैं। आत्मा तो सर्वोपरि है, लेकिन यह सब में और सबके साथ होकर भी तटस्थ रहती है। मिथकों के निर्माण में भी मन और मस्तिष्क विश्वासों और सामंजस्यों को बैठाते हैं। मन का उद्वेग और मस्तिष्क की तर्कना शक्ति वैदिक मान्यताओं और जनजातीय विश्वासों में अनेक बिन्दुओं पर समानता पैदा करती हैं। प्रकृति की महत् शक्तियों और सौन्दर्य उपादानों -पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, वृक्ष, नदी, आकाश, जल, मारुत, अग्नि की स्तुति वैदिक साहित्य में भी है और जनजातीय जनगीतों में भी उसी विस्मय, आकर्षण और भय के साथ हैं। प्रकृति दोनों के विश्वासों के केन्द्र में है। प्रकृति परिवेश से गहरा तादात्म्य वैदिक ऋषि भी करता है और जनजातीय गीतकार और संस्कारधारक भी करता है। प्रकृति की शक्तियों को देवत्व से विभूषित करने की आस्थामय भयातुरता और उमंगातुरता दोनों में हैं। आग की प्राप्ति और उसकी व्यापक ज्योतिर्मय उपयोगिता मानव संस्कृति के विकास का आभामय प्रस्थान बिंदु है। वैदिक ऋषि अग्नि की उपासना करते हुए कहता है, 'अग्निमीडे पुरोहितम्। वैदिक मानव के जीवन में अरणि अतिशय महत्ता पा गई, क्योंकि वह अग्नि की कारक है। दंडामी माड़िया की मान्यता है कि उनके पूर्वजों ने पहले-पहल अग्नि का आविष्कार सियाडी लता के मेरुदंड से किया था।

वैदिक साहित्य, वेदान्त और प्रस्थानत्रयी के अनेक प्रसंग जनजातियों सहित समस्त आदिम भारतीय समाज की धारणाओं में मिथक बनकर बैठे हैं। जनसाहित्य या लोकसाहित्य के अध्ययन में और उसके मूल को समझने में ये मिथक बहुत सहायक होते हैं। उनसे समग्र भारतीय पुरा (प्राचीन) जनसमाज की भावों और विश्वासों पर आधारित अभेदता उजागर होती है। मिथक मूलतः जीवन-सत्य है। सृष्टि की उत्पत्ति सम्बन्धी और प्रकृति तथा जीव-सृष्टि की पारस्परिक सम्बन्धता वैदिक और पौराणिक आख्यानों से लेकर जनजातीय वाचिक साहित्य तक विस्तारित है। प्रकृति की पूजा और वृक्ष देवोभवः की आस्था ही प्रकारान्तर से धान, जौ, आम, जामुन, महुआ से सम्बन्धित मिथकों में नये रूप में विद्यमान है। ये मिथक मात्र काल्पनिक कथाएँ नहीं हैं, बल्कि जीवन सत्य हैं, जिनमें जनजातीय समाज जीता है। सृष्टि-रचना से लेकर जीवन और जगत् से सम्बद्ध प्रकृति की शक्तियों का अनन्त मिथकीय सिलसिला आश्चर्यजनक रूप से वैदिक चिन्तन और पौराणिक आख्यानों से सामन्जस्य स्थापित करता है। ऋग्वेद का नासदीय सूक्त सृष्टि रचना का संकेत करता हुआ कहता है –

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीयः कुहकस्य शर्मन्नभ्भः किमासीद् गहनं गम्भीरम्।।

(उस समय सृष्टि रचना के पूर्व न नाम-रूपादि रहित अवस्था थी, न नाम रूपात्मक ही थी। न कोई लोक था, न आकाश ही था, जो ऊपर है। किसने आवृत्त किया था? कहाँ किसकी सुरक्षा में? क्या अपार गम्भीर जल था?)

सृष्टि की उत्पत्ति जल से हुई और जल को उत्पन्न ईश्वर ने किया, यह धारणा भारतीय समाज से लेकर विश्व के अनेक मतों और पन्थों में विद्यमान है। भारतवर्ष की जनजातियों में भी यह विश्वास जीवित है। गोंडों का यह विश्वास है कि सृष्टि रचना के पहले सब ओर जल-ही-जल था। उस अनन्त जल-सागर के मध्य सिन्गमाली पक्षी के एक जोड़े का जन्म हुआ। पक्षियों के उस जोड़े ने पानी के ऊपर ही अपना घोंसला बनाया। उसमें उसने दो अण्डे दिए। उनसे सृष्टि का विकास हुआ। बैगा जनजाति की मान्यता है कि पहले चहुँओर पानी-ही-पानी था। जैसे ऊपर आकाश है, वैसे ही नीचे पानी-ही-पानी था। उस जलराशि पर कमल के पत्ते पर भगवान् का प्रादुर्भाव हुआ। उसी आदि सिन्धु की अनन्त जलराशि पर तैरते हुए कमल-पत्र पर बैठकर भगवान् सृष्टि की रचना करते हैं। वैदिक मान्यता भी 'एकोऽहं बहुस्याम' की ध्वनि संचरित करती है। यह मान्यता और विश्वास 'शतपथ ब्राह्मण' से लेकर जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' तक में प्रतिफलित हुआ है।

पृथ्वी की रचना को लेकर विज्ञान कुछ भी कहता हो, पर लोक विश्वासों और मान्यताओं में भिन्न प्रसंग मिलते हैं। एक मान्यता यह है कि मिट्टी की चोरी हो गई। भगवान् ने चोरी हुई मिट्टी की खोज कराई। खोई हुई मिट्टी मिल जाने पर भगवान् ने उसे समुद्र सतह पर फैला दिया। उसी से पृथ्वी बनी। दूसरी मान्यता यह है कि यज्ञ का आयोजन किया गया, उससे पृथ्वी की रचना हुई। तीसरी मान्यता है कि भगवान की प्रेरणा से पृथ्वी स्वयं-स्फूर्त हुई। वैगा, अगरिया और गोंड जनजातियों की धारणा है कि भगवान् ने कौए की रचना की और उसे मिट्टी की खोज में भेजा। यह कौआ 'ककड़ामल' नामक एक क्षत्रिय की पीठ पर सवार हुआ, जो उसे समुद्र के पार 'गिचनाराजा' के पास ले गया, जिसने जल के भीतर डूबी हुई पृथ्वी को बाहर निकाला। कौए ने गिचनाराजा से वमन (उल्टी) करने के लिए कहा। वमन-क्रिया से गिचनाराजा के मुख से मिट्टी के इक्कीस लौंदे निकले। इन माटी-पिण्डों को यह भगवान् के पास ले गया। भगवान् उन

मिट्टी के पिण्डों के गूँधने के लिए कुजारी कन्या को बुलाते हैं। आठ दिनों और नौ रातों तक यह कन्या माटी को गूंधती रही। उसके बाद भगवान ने उस मिटटी को रोटी की आकृति में बदलकर अनन्त जलराशि पर फैला दिया। यही पृथ्वी बनती है। भीली जनश्रुति कहती है कि भगवान् ने मिट्टी को गीली करने के लिए उसमें रक्त मिलाया। पहले भगवान पैदा हुए I फिर महाकाल के रूप में समय अस्तित्व में आया। फिर जल-सृष्टि हुई, फिर पृथ्वी बनी। फिर सूर्य-चन्द्र, दिन-रात, पावस-शरद, हेमन्त-शिषिर, बसंत-ग्रीष्म की सृष्टि हुई। पशु-पक्षी पैदा हुए। फिर मानव-सृष्टि से पृथ्वी खिलखिला उठी। दिशाएं हँसी। सृष्टि का आलोक रथ चल पड़ा। गोंड जनजाति का विश्वास है कि नई-नई सर्जित गीली पृथ्वी पर जब भीमसेन ने लोट लगाई, तो पर्वत पहाड़ पैदा हो गये। राजमुरिया मानते हैं कि महाप्रभु ने अपनी दाई टाँग से केशों का लुंचन कर उन्हें आकाश के नौ कोनों में फेंका, वे ही नौ ग्रहों के रूप में स्थापित हो गए। ओराँवों की धारणा है कि पृथ्वी कछुए की पीठ पर रखी हुई है तथा केकड़ा उसकी देखभाल करता है। जब कछुआ थोड़ा सा हिलता-डुलता है, तो भूकम्प आता है।

सृष्टि-विनाश के सामान्यतः दो मिथक जनजातियों में प्रचलित हैं। प्रथम अग्नि का मिथक और दूसरा जल का मिथक। प्रलयंकर अग्नि से इस सृष्टि का विनाश होता है, यह धारणा खड़िया, कोल और ओराँव वनवासियों में है। पृथ्वी पर जल प्लावन की धारणा का उल्लेख अनेक जनबोलियों के याचिक साहित्य में मिलता है। दण्डामी-माड़िया मानते हैं कि एक बार प्रलयंकारी वर्षा हुई और उसमें प्रथम सृष्टि डूब गई। जलप्रदाय के बाद एक स्त्री और एक पुरुष के जीवित बचे रहने की कथा प्रायः सबमें मिलती है। शतपथ ब्राह्मण में उल्लेखित जलप्लावन की कथा का विस्तार और साम्य इन जनजातीय विश्वासों में पैठा है। आदि पुरुष मनु और आदि स्त्री श्रद्धा के नामों का रूपान्तरण जनजातियों में परिवेश और पर्यावरण के आधार पर हो गया-सा लगता है।

दण्डामी वनवासियों की धारणानुसार एक समय प्रलयंकारी वर्षा हुई और सारी पृथ्वी जलमग्न हो गई। प्रलयंकारी वर्षा के समय गजभीमुल ने कवाची तथा कुहरामी नामक भाई-बहन को एक तुम्बे में सुरक्षित रख दिया। तुम्बा कई रात कई दिन तक बहता रहा और एक दिन एक चट्टान से जाकर टकराया। ईश्वर ने कौए की रचना की और उसे भेजा कि जाकर देखे, क्या कोई स्त्री-पुरुष बचा है? कौआ जलराशि के विस्तार पर उड़ता रहा। उसने एक चट्टान से सटा हुआ तुम्बा देखा। यह चट्टान पर बैठना चाहता था, परन्तु चट्टान बहुत गरम थी। वह ईश्वर के पास वापस लौट आया। ईश्वर ने उसे फिर से वापस भेजा, देखो तुम्बे में कोई जीवन शेष है क्या? धीरे-धीरे चट्टान के पास एक वटवृक्ष उग आया। वृक्ष पर बैठकर कौए ने तुम्बा उठा लिया। उस तुम्बे से कवाची (पुरुष) और कुहरामी (स्त्री) निकलकर बाहर आए। दोनों बहुत दिनों से भूखे थे। वट वृक्ष का रस पीने लगे। कुछ दिनों बाद रस भी खत्म हो गया। दोनों भूख से तड़पने लगे। कौए ने सोचा ये दोनों भूख से मर जाएँगे, तो मांस खाने को मिलेगा। वह ईश्वर से यह कहकर झूठ बोला कि वे सकुशल हैं। भूख से उनके रोने की आवाज सुनकर ईश्वर ने गरुड़ को भेजा। गरुड़ भी लोभवश झूठ बोला। ईश्वर ने फिर शेर को भेजा। शेर भी माँस का लोभी निकला। ईश्वर ने तब बन्दर को भेजा। बन्दर जाकर गरम चट्टान पर बैठा तो उसके पुट्ठे जल गए। उसने मुँह को हाथ लगाया तो उसका मुँह काला हो गया। बन्दर ने कवाची और कुहरामी की दशा देखी और ईश्वर के पास आकर सारा सच कहा। तब ईश्वर ने एक सूअर को भेजा। कहा- उस गरम चट्टान के नीचे जो कीचड़ है, उसे चट्टान पर फैला आओ। सूअर गया और वैसा ही किया। इस क्रिया से धरती बनी। दोनों पुरुष-स्त्री ने फसल बोई और स्वयं ने खाई तथा सूअर को भी खाने दिया।

गजभीमुल की इच्छा थी कि सृष्टि का विकास हो। उन्होंने दोनों स्त्री-पुरुष से विवाह करने को कहता। दोनों ने आपस में विवाह करने से मना कर दिया। तब गजभीमुल ने बूढ़ी माताल को बुलाकर चेचक रोग बनाया। दोनों को चेचक हो गई। वे दर्द से व्याकुल होकर दुनिया का चक्कर लगाने लगे। दोबारा दोनों मिले तो चेचक के कारण दोनों के चेहरे विकृत हो चुके थे। वे एक-दूसरे को पहचान नहीं पाये। दोनों ने आपस में विवाह किया। उनसे बारह भाई-बहन पैदा हुए। मारवी ओयामी करतामी कुंजामी, पोरिआमी, कलभूमी, नेंदी, मरकामी, कुहरामी, कवाची, वेत्ती और कत्ती जातियाँ-उपजातियाँ उन्हीं का वंश-विस्तार हैं। इन्हीं से मानव समाज का विकास विस्तार हुआ है।

दण्डामी मारिया जनजाति की लोककथा में सूर्य-चन्द्र तुरु नामक मछली के पेट से निकले थे। वे आकाश में चले गये और तब से आकाश में ही हैं। एक और कथानुसार पहले सूर्य रोज काले बैल का रूप धारणकर धरती पर घूमने आता था। माड़िया ने उसे पकड़ लिया और बाँध लिया। तब से सूर्य बारह घंटे तक कैद में रहने लगा। उसी से रात्रि होती है। तारे सूर्य-चन्द्र के पुत्र हैं और टूटकर गिरनेवाले तारे उन बच्चों के मल हैं। गोंडों की लोककथा ऐतरेय ब्राह्मण की धारणा से सम्बद्ध लगती है। आकाश और धरती पास-पास थे। झाड़ू लगाते समय बुढ़िया की कूबड़ में आकाश बार-बार लगता था। बुढ़िया ने उसे झाड़ू मारी और वह दूर, बहुत दूर चला गया। धुर्वा मानते हैं कि पहले चारों ओर पानी-ही-पानी था। पानी की छोटी-छोटी मछलियाँ ही बिजलियाँ बन गई। इन्द्रधनुष को लिंगों अगिनबान और गोंड धामनगोटा कहते हैं। परधानों के अनुसार यह वासुकि नाग का फन है। जनजातीय धारणाओं में वृक्षों और लताओं के साथ जुड़ी अनेक मिथकीय परम्पराएँ आज भी जीवित हैं।

वैदिक जन ने अग्नि, वरूण, इन्द्र, पृथ्वी, आकाश, मरुत, मण्डूक, कच्छप, वृक्ष, अन्न आदि को देवता माना। आदिम जनों या जनजातियों की मान्यताओं-विश्वासों में भी ये ही देवतास्वरूप बैठे हैं। इन देवताओं की जीवन-शक्ति से गहरी संपृक्ति है। प्रकृति के जो तत्त्व पौराणिक समाज और साहित्य के चिन्तन-आधार रहे हैं, वे ही तत्त्व जनजातीय समाज के व्यवहार से प्रत्यक्षतः जुड़कर नाना प्रकार के मिथकों की सर्जना करते हैं। जनजातीय मन-मस्तिष्क का प्रसरण संसार कल्पना और प्रत्यक्ष अनुभव दोनों के आधार पर सृष्टि और प्रकृति के सत्य को खोजने पाने का प्रयत्न करता है। प्रकृति का व्यवस्थित और सघन चिन्तन भी संस्कृति-निर्माण का अंग है। वैदिक और आदिम मानव समाज का सत्य प्रकृति से प्रत्यक्ष संबंध, आदिम जीवन-यथार्थ और मन की उन्मुक्त सांगीतिक लय से उद्भूत है। अतः मिथकों के सत्य को वैदिक और जनजातीय जीवन-यथार्थ और प्रकृति-सत्ता से साक्षात्कार करके ही समझा-जाना जा सकता है।

संदर्भ :-

- मिथक (ब्रिटानिका) आदिम जल, गोताखोर प्राणी, मिट्टी लाना, भूमि का निर्माण।
- भारत की जनजातियाँ- वैरियर एल्विन।
- भारत की जातियां एवं जनजातियाँ- डी.एन. मजूमदार।
- मानव और संस्कृति- श्यामाचरण दुबे।
- सामाजिक मानवशास्त्र की रूपरेखा- रवीन्द्रनाथ मुकर्जी।
- समकालीन मानवशास्त्र - एस. एल. दोषी
- नर्मदांचल की सांस्कृतिक यात्रा के समय जनजातीय समूह के कुछ व्यक्तियों से प्रत्यक्ष चर्चा तथा अध्ययन के आधार पर।)

आज़ाद नगर, खण्डवा
मोबा. - 94253 42748

पुराणों में उत्पत्ति और प्रकृति

डॉ. श्रीकृष्ण “जुगनू” (उदयपुर)

उत्पत्ति को पुराणकारों ने सृष्टि और सर्ग के रूप में रेखांकित किया है और अनेक रूपों में अनुमित करते हुए निसर्ग के उद्भव के चरणों का विवरण दिया है। पुराणों के पांच लक्षणों में सर्ग पहला लक्षण है और दूसरा प्रतिसर्ग, तीसरा मन्वन्तर, चौथा वंश और पांचवां तथा अंतिम वंशानुकीर्तन। वायु, विष्णु, ब्रह्मांड, मार्कण्डेय जैसे प्राचीन पुराण इसी मान्यता वाले हैं जबकि भागवत विस्तृत दस लक्षणों का आरंभ भी सर्ग से ही करता है। इसका सामान्य आशय है कि पुराणोक्त विषयों में उत्पत्ति पर विचार आवश्यक माना जाता रहा। यही आगमों को भी अभीष्ट रहा और विशेषकर पांचरात्र आगमों का आरंभ सर्ग विषयक आख्यानों से हुआ। यह भी रोचक है कि पुराणों की अतिवृद्धि में इन आगमों की बड़ी भूमिका रही है।

सृष्टि की रचना और प्राणियों की गतिविधियों की सामान्य सूचनाओं से आगे पुराणों ने ब्रह्मसर्ग और काश्यपीय सर्ग का विवरण दिया है। पद्मपुराण में यदि पहले आदि या सृष्टिखण्ड मिलता है और फिर भूमि, स्वर्ग और पाताल खण्ड नियोजित हैं, ब्रह्मवैवर्त पुराण में ब्रह्मखण्ड और मत्स्य, अग्नि आदि पुराणों में अध्यायों का आरंभ सृष्टि उद्भव से ही होता है और यही प्रभाव हमें अन्यान्य विषय ग्रंथों पर भी देखने को मिलता है। सबके बीज या कारण तत्व का प्रतिपादन और सृष्टि के लिए प्रवृत्त हुए परमात्मा की रचना ऐसे वर्णन में निहित होती है, जैसा कि ब्रह्मवैवर्त पुराण में शौनक का प्रश्न है : यत्राऽऽदौ सर्वबीजं ... सृष्ट्युन्मुखस्य। (ब्रह्मखण्ड 1, 17) पुराणकार मानता है कि परम पुरुष के दक्षिण पार्श्व से संसार के कारण रूप तीन मूर्तिमान गुण प्रकट हुए। उन गुणों से महत्तत्व, अहंकार, पंचतन्मात्राएं और रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द क्रमश: उत्पन्न हुए। वायु, अग्नि और ब्रह्मांड आदि पुराण सृष्टि, सर्ग के लिए ईश्वरीय कारण कहते हैं लेकिन अनेक रूप में इसका विकास होता रहा और सबका श्रेय सर्वेश्वर को दिया गया। इसमें सांप्रदायिक भावना भी लक्षित है।

आगमिक मान्यताओं का अर्थ : जयाख्य संहिता जिसकी रचना 550 ई. के आसपास की अनुमानित है, में ब्रह्मसर्ग आख्यान में ऋषियों ने सबकी ओर से प्रश्न किया है कि जब सर्वत्र अज्ञान रूपी कीचड़ पसरा हुआ था (अज्ञानपंकमग्न), तब गति कैसे आई ? इस पर महामुनि शांडिल्य कहते हैं कि उस काल में आत्मिक संतुष्टि, भक्तों के हित, संबंधों की स्थापना और कष्टों - उपद्रवों का शमन हो, इसके लिए श्रीहरि अग्रणी हुए और उद्भव का क्रम चला। संहिता में नारद ने जिन - जिन नामों और विशेषणों से स्तुति की, वे सब उत्पत्ति के आधार (सर्गस्य प्रभवाय) को लिए हैं। स्वर्णगर्भ की मान्यता का पोषण करते हुए कनकगर्भ की सभी देहों को धारण करने वाला कहा गया है, यह चमकीले बिंदु से चराचर के संभव होने का प्रारंभिक विचार है। उत्पत्तियां सरोवर के जल, गुहावास, अपर लोकालोक, व्योम आदि की बताई गई है।

यहां अवतारों का होना भी विकास और अन्य आवश्यकताओं के ध्येय को लिए हैं। यथा : मीन से निमिलित दृष्टि मिली और कूर्म से पहाड़ जैसा भार उठाने की क्षमता और भूमिमंडल को धारण करना आया। भय का निवारण कर अभय करने के लिए नरसिंह आए। वामन के रूप में स्वरूप के विस्तार का माहात्म्य था...। (जयाख्य. 2, 9 - 13 आदि) ब्रह्मा का नाभि से उद्भव अनेक सृष्टियों का कारण हुआ, उनका चतुर्मुख होना चौमुखे विस्तार का अर्थ लिए है। इसी में देवता, अनेक प्रकार के मानव और पशु, स्थावर, जंगम तथा सूक्ष्म व स्थूल, चेतन, अचेतन रूपों का उद्गम और विस्तार निहित है। (जयाख्य. पटल द्वितीय)

प्रकृति : स्वरूप और महत्ता : पुराणों ने चराचर को ऐसे गुणों के साथ देखा है, जिसमें रचना करने का सामर्थ्य होता है और जो प्राणिजगत के स्पन्दन को आत्मसात् करता है। चराचर को ऐसी विशेषता के कारण ही प्रकृति के रूप में परिभाषित किया है। वह किसी वस्तु की नैसर्गिक स्थिति, जड़जगत् या स्वाभाविक रूप है, मूल, स्रोत, मौलिक या भौतिक कारण और मरीचिका है। भारतीय दर्शनों के आस्तिक स्वर ने प्रकृति को सृजनधर्मा के गुणों के साथ स्वीकार किया है। इसमें आठ प्रधान तत्त्व हैं जिनसे सांख्यकारिकादि ने प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति मानी है। प्रकृति नैसर्गिक स्वभाव, मिजाज, आदत, रूप, आकृति, वंशानुक्रम, वंशपरम्परा आदि की परिचायक भी है। ब्रह्मवैवर्तपुराण ने जगत को उत्पन्न करने वाली प्रकृति को नित्य (सनातन) माना है और ब्रह्मा को उसका सृष्टा कहा है। पुराणकार का दृष्टिकोण वैज्ञानिक है किन्तु वह प्रकृति को ब्रह्मादि देवगणों सहित उन मनुष्यों के लिए आराधना के योग्य बताता है जो प्राकृतिक हैं-

करोति सृष्टिं स विधेर्विधाता विधाय नित्यां प्रकृतिं जगत्प्रसूम्।
ब्रह्मादय: प्रकृतिर्न भिन्ना यया च सृष्टिं कुरुते सनातन:॥

यह पुराण भौतिक और आस्तिक दोनों धारणाओं में समन्वय करता है और प्रकृति के वर्णन के लिए जितने शब्दों का प्रयोग करता है, वे नि:सन्देह एक कोश से कम नहीं। यह पुराण वैज्ञानिक दृष्टिकोण वालों के लिए भी सुदृढ़ आधार है किन्तु उसमें आस्तिक स्वर पर विद्यमान है। प्रकृति इस अर्थ में महत्वपूर्ण है कि वह ब्रह्मस्वरूपा है और ब्रह्म से भिन्न नहीं है। जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है कि प्रकृति ही परमात्मा के लिए सृष्टि के लिए आधार है, वैसे ही ब्रह्मवैवर्तपुराण कहता है कि सनातन ईश्वर ही प्रकृति से सृष्टि करते हैं, उसी प्रकृति की कला से संसार की स्त्रियाँ रची गई हैं। प्रकृति माया है और सबसे उससे विमोहित है, वह सनातनी, नारायणी है और परमात्मपुरुष की परम शक्ति है। उसी से वे आत्मेश्वर शक्तिमान कहे जाते हैं। उसके अभाव में सृष्टि करने में असमर्थ होते हैं-

आत्मेश्वरश्चापि यया च शक्तिमांस्तया
विना स्रष्टुमशक्त एव॥

दस लक्षणों का आरंभ भी सर्ग से ही करता है। इसका सामान्य आशय है कि पुराणोक्त विषयों में उत्पत्ति पर विचार आवश्यक माना जाता रहा। यही आगमों को भी अभीष्ट रहा और विशेषकर पांचरात्र आगमों का आरंभ सर्ग विषयक आख्यानों से हुआ। यह भी रोचक है कि पुराणों की अतिवृद्धि में इन आगमों की बड़ी भूमिका रही है।

ब्रह्मवैवर्तपुराण श्रीकृष्ण के ब्रह्मत्व के विवर्तों (परिणामों) का वर्णन करता है। चूंकि ब्रह्म का आद्य विवर्त प्रकृति है, ऐसे में यह नामकरण प्रकृति का परिचायक है- ब्रह्मविवर्तस्य (प्रकृते:) विवर्ता: (परिणामा:) यत्र प्रदश्र्यन्ते तत् पुराणम् ब्रह्मवैवर्तम्। यह ऐसा पुराण है जिसमें प्रकृति के नानाविध परिणामों का प्रतिपादन किया गया है और इसके चारों खण्ड (ब्रह्म, प्रकृति, गणपति और श्रीकृष्णजन्मखण्ड) किसी न किसी रूप में प्रकृति के साथ सम्बद्ध है। इनमें प्रथम दो खण्ड अधिक वर्णन-विस्तार लिए है। इसके प्रकृतिखण्ड में 67 अध्याय हैं। यह पुराण स्पष्ट करता है कि ब्रह्म स्वरूप वाली मूल प्रकृति एक ही है किन्तु वह विष्णु की सनातनी माया सृष्टि के समय पाँच रूपों में प्रकट होती है –

मूलप्रकृतिरेका सा पूर्णब्रह्म स्वरूपिणी।
सृष्टौ पञ्चविधा सा च विष्णुमाया सनातनी॥

प्रकृति : गुण और स्वरूप : पुराणकार धर्म के मत से स्पष्ट करता है कि सृष्टि करने में प्रकृष्ट गुण से सम्पन्न होने वाली देवी को 'प्रकृति' कहा गया है। श्रुति में प्र शब्द का प्रकृष्ट सत्त्वगुण अर्थ बताया गया है, कृ शब्द का मध्यम रजोगुण और ति शब्द का अन्तिम तमोगुण अर्थ प्रतिपादित किया गया है- यह बहुत गम्भीर अर्थ है क्योंकि इसके तीन अक्षरों में तीनों ही गुणों का स्थान है। इसी कारण वह त्रिगुण स्वरूप वाली, सर्वशक्तिमती और सृष्टि में प्रधान है। पहले अर्थ में प्र शब्द और सृष्टि के अर्थ में कृति शब्द का प्रयोग होता है- ऐसे में सृष्टि की आदि देवी प्रकृति है-

प्रथमे वर्तते प्रश्च कृतिः स्यात् सृष्टिवाचकः।
सृष्टेराद्या च या देवी प्रकृतिः सा प्रकीर्तिता॥

सृष्टि का विधानकाल नि:सन्देह एक महाघटना है जिसकी परिकल्पना मानवीय बुद्धि का परम वैशिष्ट्य है। यह विचित्र ही है कि कैसे सृष्टि का विचार जागा हो और उसमें रचना का विधान हुआ हो? यह प्रकृति का अद्भुत ही है। इस विषय में पुराणकार यह मत देता है कि विधानकाल में परब्रह्म योग द्वारा दो रूपों में प्रकट होते हैं- अ. पुरुष : जो दाहिने अंग से उत्पन्न होता है और आ. प्रकृति : जो बायें अंग से उत्पन्न हो।

यह भी कहा गया है कि वह ब्रह्मस्वरूपा माया जो नित्य और सनातनी है, वह अग्नि में दाहिका शक्ति की तरह आत्मा की शक्तिरूप होती है। इसीलिए योग की दृष्टि के धारक लोग इनमें भेद नहीं मानते हैं। वे सबको निरन्तर ब्रह्ममय ही देखते हैं। मूल प्रकृति स्वेच्छामय श्रीकृष्ण की सृष्टि करने वाली इच्छा द्वारा सहसा-स्वाभाविक रूप से प्रकट हुई मानी जाती है। वह नियमों में आबद्ध है- इसका आशय है कि वह निर्धारित क्रम को धारण करती है और अपने प्रति श्रद्धा रखने वालों के लिए विविधरूप धारण करती है। प्रधान रूप निम्न हैं-

1. **कल्याणमयी-** सबकी अधिष्ठात्री, सनातनी और ब्रह्मरूपा, यश, मंगल, धर्म, श्री, सत्य, पुण्य, मोक्ष एवं हर्ष प्रदान करने वाली तथा शोक-दु:ख का निवारण करने वाली, दीनों की रक्षक, परम तेज स्वरूपा तथा तेज की अधिष्ठात्री जो शिव को भी नित्य शक्ति प्रदान करती है, जिसको सिद्धेश्वरी, सिद्धिरूपा, सिद्धिप्रदा और सिद्धि की अधीश्वरी कहा है, जो बुद्धि, निद्रा, क्षुधा, प्यास, छाया, तन्द्रा, दया, स्मृति, जाति, क्षान्ति, शान्ति, कान्ति, भ्रान्ति, चेतना, तुष्टि, पुष्टि, लक्ष्मी, वृत्ति तथा माता के नाम से जानी जाती है और जो अनन्ता एवं अनन्त गुणों वाली है।
2. **शक्तिमयी-** पोषण के स्वामी विष्णु की शक्ति, पद्मा, सत्त्वस्वरूपा, सम्पत्ति स्वरूपा एवं सम्पत्तियों की अधिष्ठात्री, परम सुन्दरी, अनुपम संयमरूपा, अति शान्तरूपा, सुशीला व सर्वमंगलमयी जो लोभ, मोह, काम, रोष, मद और अहंकार आदि दुर्गुणों से रहित, अनुग्रह करने वाली, प्रेममयी, अन्नमयी, जीवन-रक्षा स्वरूपा, जड़ पदार्थों की शोभा, परम मनोहर, पुण्यात्माओं प्रीति एवं राजाओं की प्रभा, चंचला, वणिकों में व्यापार रूप, पापियों में कलहकारिणी, सर्वपूज्या व सबकी वन्द्या है।
3. **वाग्बुद्धिविद्याज्ञानमयी-** परमात्मा की वाणी, बुद्धि एवं विद्या एवं ज्ञान की अधिष्ठात्री जो सर्वविद्यास्वरूप होने से सरस्वती है, जो सज्जनों को उत्तम बुद्धि, कविता, मेधा, प्रतिभा व स्मृति प्रदान करती है, अनेक प्रकार के सिद्धान्त भेद व अर्थों का विचार देती है, जो व्याख्या व बोधस्वरूपा है, सन्देहों का निवारण करने वाली व ग्रन्थों का निर्माण करने वाली शक्ति है, जो संगीत की सन्धि तथा ताल का कारण है, जीवों के लिए जो विषय, ज्ञान व वाणीरूपा है और जिसके अभाव में विश्व समूह मूक व मृतक के समान है, जो शुद्ध सत्त्वरूपा, सुशीला व विष्णुप्रिया है, जो तप:स्वरूपा, तपस्वियों को तप का परिणाम देने वाली, स्वयं तपस्विनी, सिद्धि-विद्या स्वरूपा है।
4. **वेदादिजननी-** चारों वेद, वेदांग, छन्द:शास्त्र, सन्ध्या वन्दन के मन्त्रों व तन्त्रों की जननी, जपरूपा, तपस्विनी, ब्रह्मण्यतेजोरूपा, संस्कारों को सम्पन्न करने वाली सावित्री या गायत्री रूपा है, तीर्थगण जिसके स्पर्श से अपनी शुद्धि और दर्शन चाहते हैं, जो कान्तिमयी, शुद्ध सत्त्वरूप वाली, परमानन्दरूपा, परमा, सनातनी, परब्रह्मरूपा, निर्वाण जैसा पद प्रदान करने वाली, ब्रह्मतेजोमयी व उसकी अधिष्ठात्री है।
5. **प्रेमप्राणस्वरूपिणी-** जो प्रेम व प्राणों की अधिदेवता व पांच प्राण स्वरूपिणी है, सभी देवियों में अग्रगण्य, परमसुन्दरी, सौभाग्य सम्पन्ना, मानिनी, गौरवशालिनी, उत्तम गुणों व तेज से परब्रह्म की समानता प्राप्त करने वाली, परावरा, सबकी माता, परमाद्या, सनातनी, परमानन्दरूपा, धन्या, सर्वपूजिता व रास की अधीश्वरी है। जो परम आह्लादकारी, सन्तोष, निरहंकारा, अनुग्रहकारिणी, श्रीयुक्त है।

उक्त वर्णन सिद्ध करता है कि प्रकृति किस रूप में नहीं है। वह सत्त्व, स्वभाव और निसर्ग से लेकर गुण तक रूप में साकार है। जगत में जो कुछ वैशिष्ट्य है, उसके मूल में प्रकृति ही है। वह अनेक रूपों में व्यापकता लिए है। इसीलिए पुराण यह भी कहता है कि उसके अंश, कला, कलांश एवं कलांशांश- इन चार भेदों से अनेक रूप है- अंशरूपा कलारूपा कलांशांश

चराचर को ऐसी विशेषता के कारण ही प्रकृति के रूप में परिभाषित किया है। वह किसी वस्तु की नैसर्गिक स्थिति, जड़जगत् या स्वाभाविक रूप है, मूल, स्रोत, मौलिक या भौतिक कारण और मरीचिका है। भारतीय दर्शनों के आस्तिक स्वर ने प्रकृति को सृजनधर्मा के गुणों के साथ स्वीकार किया है। इसमें आठ प्रधान तत्त्व हैं जिनसे सांख्यकारिकादि ने प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति मानी है।

समुद्भवा:। प्रकृति की विशेषता लोक को पवित्र करना भी है क्योंकि वह रूपान्तरण की शक्ति से संयुक्त होती है। इसके उदाहरण के तौर पर गंगा जैसी नदियों के प्रवाह को लिया जा सकता है जो सदियों से भूमि की स्वच्छता की परम उपाय हैं, अग्नि के दाह गुण को लिया जा सकता है जो अनावश्यक वस्तुओं को जला कर नवीनता का मार्ग दिखाती है। पवन के चलन को लिया जा सकता है जो शुद्धि, परागण और प्रवजन के लिए कारणभूत है। आकाश का धारणा को लिया जा सकता है जो सभी तत्त्वों के लिए कारणभूत है। प्रकृति ही समस्त सोच को साकार करती है, तप को सद्य: सम्पन्न करने वाली है, वह शंख, पद्म, दूध जैसी उज्ज्वल है और इन गुणों का विस्तार भी करती है-

तप: सम्पादिनी सद्यो भारते च तपस्विनाम्।
शंख पद्म क्षीरनिभा शुद्धस्वरूपिणी॥

पुराणकार तुलसी के नाम के साथ वनस्पति जगत को प्रकृति का प्रधान अंग (प्रधानांशस्वरूपा) मानता है और कहता है कि भारत में वृक्ष होकर प्रकृति कल्पद्रुम का काम करती है- कल्पवृक्षस्वरूपा च भारते वृक्षरूपिणी।

इसी क्रम में नागदेवी मनसा की महिमा का वर्णन करता है। यह वर्णन सरिसृपवर्ग में प्रकृति के विचरण का विचित्र उपक्रम है। देवसेना के रूप में प्रकृति के छठवें अंश को सदा पुत्र-पौत्रदात्री व धात्री कहता है और मानता है कि ये निरन्तर नियमिता, नित्या, काम्या और परारूप में रहती हैं। यह मातृरूपा, दयामयी, निरन्तर रक्षा करने वाली है और जल, स्थल तथा आकाश में शिशुओं को स्वप्न में दिखाई देती है। यह शिशु मनोविज्ञान की सुन्दर धारणा है। मंगलचण्डी के नाम से पुराणकार जिस देवी का वर्णन करता है, वह प्रकृति के मुख से उत्पन्न होकर सदा ही समस्त मंगलों का सम्पादन करती है। वह पूजित होकर पुत्र-पौत्र, धन, ऐश्वर्य, शोभा व मंगल की प्रदायिका है तथा शोक, सन्ताप, पाप, कष्ट, दु:ख-दारिद्र्य का नाशकर सकल कामनाएँ पूर्ण करती हैं किन्तु रुष्ट होने पर संहारक भी हो जाती है। प्रकृति के प्रधान अंश के रूप में काली का तेजोमय रूप रणक्रीड़ा में दिखाया गया है।

प्रकृति के प्रधान अंश के रूप में पृथ्वी की गणना की गई है जिस पर जगत् स्थिर है। वह प्राकृतिकरूप से समस्त अन्नों को उत्पन्न करने वाली (सर्वसस्यप्रसूतिका) है, रत्नों और धातुओं की खान तथा सभी मूल्यवान् वस्तुओं की आधार है। इसीलिए शासक और जनसामान्य के लिए स्तुति के योग्य है। वह सभी को जीविका प्रदान करने वाली है। वही सम्पूर्ण सम्पत्ति का विधान करती है- यदि वे न रहें तो सारा चराचर कहीं भी नहीं ठहर सकता। इस वर्णन में निश्चित ही वैदिक पृथिवीसूक्त और ब्राह्मण ग्रन्थों सहित स्मृतियों और संहिताओं के स्वर दिखाई देते हैं-

सर्वोपजीव्यरूपा च सर्वसम्पद्विधायिनी। यया
विना जगत्सर्वं निराधारं चराचरम्॥

पुराण के आठवें अध्याय में वर्णित पृथ्वी स्तोत्र इस प्रसंग में तुलनीय है। उसके भूमि, वसुधा, वसुन्धरा, उर्वी, धरा, धरित्री, धरणी, इज्या, क्षोणी, क्षिति, काश्यपी, अचला, विश्वम्भरा, अनन्ता, पृथ्वी और मही जैसे नामों के कारण भी बताए गए हैं।

इस पृथ्वी की शोभा के लिए सदैव प्रयास करते रहने पर जोर दिया गया है। ऐसे प्रयासों को पुण्यलाभ का उपाय माना गया है। इष्टापूर्त दो कर्मों में पूर्त नामक कर्म की प्रशंसा है जिसमें सार्वजनिक हित में बावड़ी, कुआं और तालाब आदि निर्माण किया जाता है। यह भारतवासियों को प्रेरणा देता है क्योंकि कहा गया है कि समस्त प्राणियों के हित में तालाब बनवाकर समर्पित करने जनलोक में ख्याति के रूप में आयु बनी रहती है। बावड़ी के निर्माण और दान से सौगुना फल मिलता है, सेतु निर्माण से तालाब बनवाने के बराबर पुण्य मिलता है। इनके निर्माण के बराबर ही मरम्मत-अनुरक्षण के कार्य (जीर्णोद्धार) से मिलता है। पीपल जैसे वृक्ष के रोपण और फुलवारी से तपोलोक की प्राप्ति होती है।

इन कार्यों में निहित सर्वोपयोग और सार्वजनिक हित को समझा जाना चाहिए। यह प्रकृति की सुरक्षा की बड़ी सेवा ही कही जाएगी।

प्रकृति की कलाओं के रूप में लोकपूजित स्त्रियों का वर्णन गुण रूपी के मानवीकरण का सुन्दर उपक्रम है जिसमें स्वाहा, दक्षिणा, दीक्षा, स्वधा, स्वस्ति, पुष्टि, तुष्टि, ईशान्या, धृति, क्षमा, रति, मुक्ति, दया, प्रतिष्ठा, कीर्ति, क्रिया, मिथ्या, शान्ति, लज्जा, बुद्धि, मेधा, स्मृति, मूर्ति, निद्रा, संध्या, रात्रि व दिन, क्षुधा, पिपासा, प्रभा, दाहिका, जरा, मृत्यु, तन्द्रा, प्रीति, श्रद्धा, भक्ति, अदिति, दिति आदि के लक्षणों का विशिष्ट निरूपण किया गया है। यह प्रकृति का स्वाभाविक निरूपण है जिनको प्रकृति की कलाएँ कहा गया है।

लोकदेवियाँ व ग्रामदेवियाँ : भारत में जिस तरह लोकजीवन में लोकदेवियों की मान्यता है, वैसे ही पुराण में प्रकृतिस्वरूप ग्रामदेवियों या खेड़ाखूंट माता के स्वरूप को परिभाषित किया गया है। सभी को प्रकृति की कला कहा गया है-

या याश्च ग्रामदेव्यस्ता सर्वाश्च प्रकृते कला:।

यह भी कहा गया है कि प्रकृति से उत्पन्न जितनी कलाएँ हैं, वे भारत में ग्रामदेवियाँ होकर गाँवों व नगरों में पूजी जाती हैं-

कला या या सुसम्भूता: पूजितास्ताश्च भारते।
पूजिता ग्रामदेव्यश्च ग्रामे च नगरे मुने ॥

पुराणकार का यह सुन्दर विचार है कि विश्व में जितनी भी स्त्रियाँ हैं, वे सभी कला के अंश की अंश है और वे सदैव सम्मान की अधिकारिणी है। उनके अपमान पर प्रकृति का अपमान होता है- योषितामपमानेन प्रकृतेश्च पराभव:। पुराणकार प्रकृति के अवतार की धारणा भी प्रस्तुत करता है जिसमें रामायण और दुर्गासप्तशती की धारणा परिलक्षित होती है।

ब्रह्मवैवर्तपुराणकार की मान्यता है कि परमात्मा में प्रकृति नित्य विराजमान रहती है। जैसे बिना सुवर्ण के सुनार कुण्डल आदि आभूषण नहीं बना सकता और जैसे मिट्टी के अभाव में कुम्हार कलश आदि नहीं बना सकता वैसे ही प्रकृति के अभाव में परमात्मा सृष्टि की रचना करने में असम्भव है। परमात्मा जिससे सदा ही शक्तिमान बने रहते हैं, वह प्रकृति ही शक्तिस्वरूपा है –

न हि क्षमस्तथा ब्रह्मा सृष्टिं स्रष्टुं तया विना।
सर्वशक्तिस्वरूपा या तया स्याच्छक्तिमान्सदा॥

पुराणकार प्राकृत प्रलय की स्थिति का वर्णन करता है जिसमें पृथ्वी अदृश्य रहती है और सारा जगत जल में लीन हो जाता है। पृथ्वी के उपाख्यान में इसको विशेषत: परिभाषित किया गया है।

पुराणों के वर्णन की जो विशेषताएँ होती हैं, वे ब्रह्मवैवर्तपुराण में भी लक्षित है और देवियों के वर्णन के रूप में प्रकृति के विराट स्वरूप का जैसा चित्रण किया गया है, वह दुर्लभ ही है। कहना न होगा कि प्रकृति सृष्टिमूलक अनेक कथाओं की आधार है। सभी कुछ प्रकृति की गोद में ही सम्भव होता है। प्रकृति स्वयं भी नानारूपों में स्वयं को रचती है और मानवीय आवश्यकताओं, रंजन और लीलाओं में सहायक होती है। इसीलिए प्रकृति को नटी भी कहा गया है किन्तु उसका यह स्वरूप विचित्र होता है। इसीलिए पुराणकार को उसके कलारूप अभीष्ट रहे हैं।

सन्दर्भ :

- ब्रह्मवैवर्तपुराण: वेदव्यास, सम्पादक: तारिणीश झा, इलाहाबाद, 1981 ई.

40, राजश्री कॉलोनी, विनायकनगर,
उदयपुर -313001(राजस्थान)

धरती और बीज : भारतीय ज्ञान परंपरा

डॉ. राजेंद्र रंजन चतुर्वेदी

भारतीय ज्ञान-परंपरा की चर्चा प्रायः शास्त्रीय संदर्भों तक सीमित रह जाती है, किंतु यह तथ्य कम ही लोगों के संज्ञान में आता है कि कपिला वात्स्यायन का संकल्प स्वयं भारतीय ज्ञान-परंपरा के पुनर्पाठ और पुनर्स्थापन से जुड़ा हुआ था। उन्होंने 'संपूर्णता के सिद्धांत' को केंद्र में रखकर भारतीय शोध-पद्धति के एक ऐसे प्रतिमान का प्रवर्तन किया, जो ज्ञान को खंडों में नहीं, बल्कि जीवन और प्रकृति की समग्रता में देखने पर बल देता है। उनका पूरा ध्यान देशज चिंतन के प्रति था और उसके लिए उन्होंने कितनी ही परियोजनाएं शुरू की थीं, जिनमें से कुछ पूरी भी हुई थीं।

धरती और बीज ऐसी ही परियोजना थी, जब यह परियोजना उन्होंने मुझे दी तो साफ कर दिया कि विश्वविद्यालयों की पद्धति में जो अनुशासन हैं, वे ज्ञान की परिधियां बनाते हैं और हम उनको स्वीकार नहीं करते। हमारे अध्ययन के केंद्र में जीवन है और प्रकृति है। हमें उसे समग्र रूप में देखना है, खंड-खंड करके नहीं। अध्ययन की सामग्री लोकवार्ता से संबंधित थी, जो मैंने हाथरस के सत्तर गांवों के किसानों के बीच जाकर एकत्र की थी।

किसान ने खेती की, जरूर की किंतु खेती के साथ उसने – 1. धरती और बीज की प्रक्रिया 2. धरती और बीज के बिम्ब 3. मनुष्य जीवन पर वृक्ष वनस्पति का प्रभाव और उनके प्रति मनुष्य की प्रक्रिया को भी पहचाना। यह एक ज्ञान की एक देशज परंपरा है। ज्ञान की यह परंपरा लोक में विकसित हुई और शास्त्र में भी पहुंची। उदाहरण के लिए कुछ बातें मैं यहां प्रस्तुत कर रहा हूं।

धरती और बीज की प्रक्रिया (अर्थात् बीज से वृक्ष और पुनः वृक्ष से बीज बनने की प्रक्रिया) एकांत- प्रक्रिया नहीं है। वह संपूर्ण सृष्टि की प्रक्रिया से जुड़ी हुई है। हवा चलती है, नदियां बहती हैं, समुद्र में तरंगे उठती हैं, दिन और रात होते हैं, संपूर्ण ब्रह्मांडीय- गति के साथ सब कुछ गतिशील है और बीज से वृक्ष तथा वृक्ष से बीज होने की प्रक्रिया उस संपूर्ण गति से अभिन्न है। बीज को बोने से पहले धरती को जोता जाता है तो यह पंचीकरण की प्रक्रिया है, क्योंकि इस प्रक्रिया में मिट्टी की पर्त नीचे से ऊपर की ओर आती है, उसमें धूप और हवा दोनों का समावेश हो जाता है। बीज जमीन में बढ़ता है तो उसको जीवनी -शक्ति सूरज से ही प्राप्त होती है। सूरज ही उसे जगाता है, उगाता है, और बढ़ाता है। सूरज की किरणें पड़ने से पहले अंकुर का रंग पीला होता है किंतु सूर्य- दर्शन के बाद उसका रंग हरा हो जाता है। यदि धूप न निकले तो खेती पीली पड़ जाती है सूर्य के ताप से ही वृक्ष पर फल और खेतों में फसल पकती है। सूर्य के तेज से ही बीज उत्पन्न होते हैं और अधिकांश फूल सूर्योदय होने पर ही खिलते हैं। अब हम हवा को देखें तो, दिशाओं और कोणों के आधार पर किसान हवा की पहचान करता है- पुरवइया या पछवा हवा। अनेक प्रकार की जो हवाएं हैं उनका धरती और बीज के संबंध पर अलग-अलग प्रभाव पड़ता है। पुरबैया हवा के कारण से आम लसिया जाता है। गेहूं का दाना मोटा पड़ेगा या हल्का पड़ेगा इसका संबंध हवा से है। इसी प्रकार पानी भी अनेक प्रकार का होता है- मीठा, खारा, तेलिया, लोनिया। इन भिन्न-भिन्न प्रकार के जलों का भिन्न-भिन्न प्रभाव वनस्पतियों पर पड़ता है। इस संबंध में अनेक कहावत भी कही जाती हैं, जैसे 'फूल न आया पाया पानी, धान मरा अधबीच जवानी।'

बीज की विविधता का संबंध मिट्टी की विविधता से है और मिट्टी की विविधता का संबंध पानी की विविधता से है और इस बात से भी है कि वहां पानी और धरती का संबंध कैसा है? पानी धरती को प्रभावित करता है और धरती पानी को प्रभावित करती है तथा दोनों मिलकर बीज को प्रभावित करते हैं। धरती और बीज की प्रक्रिया में पानी की भूमिका अनिवार्य है। बिना पानी के धरती में बीज अंकुरित नहीं हो सकता। किसान ने विभिन्न प्रकार के पानी और उनके प्रभाव को परखा है। खेती के लिए मीठा पानी प्रयुक्त होता है। मीठा पानी लगाने के बाद फिर बाद में खारा पानी दिया जा सकता है किंतु मरमरा पानी अपनी खेती के लिए मुर्दा की तरह होता है। तेलया पानी कड़वा होता है और खेती के लिए उपयोगी नहीं होता लोनया पानी झाग पैदा करता है जिस खेत में पाउडर जैसा बिखर जाता है इसे रेप कहते हैं और धोबी लोग इसे अपने कपड़े धोने के काम में लेते हैं लोनिया पानी जमीन को ऊसर बना देता है। रेतीली मिट्टी पानी को जल्दी सोख लेती है जबकि चिकनी मिट्टी निसुखिया होती है। जहां पानी अधिक भरा रहता है वहां की मिट्टी चिकनी और कड़ी हो जाती है इस प्रकार पानी की मात्रा और पानी की विविधता से मिट्टी में परिवर्तन होता है किंतु धरती भी पानी को प्रभावित करती है और इसीलिए यह कहा जाता है कि चार कोस पर पानी बदल जाता है। इस प्रकार हवा, पानी, और धूप की बात भी एकान्त नहीं है, वह संपूर्ण ऋतु चक्र और कालचक्र से जुड़ी हुई बात है। ऋतु और फल का अभिन्न संबंध है , माली सींचे सौ घड़ा ऋतु आए फल होय। इस प्रकार से धरती और बीज की प्रक्रिया सृष्टि चक्र की प्रक्रिया का ही एक अंग है।

खेती के लिए वर्षा एक महत्वपूर्ण आधार है। किसान की चिन्ता वर्षा से जुड़ी हुई है। इसीलिए किसानों में मेघ-विद्या का विकास हुआ। इसलिए वर्षा के अनुमान को लेकर न केवल बादलों के रंग या बिजली या हवा के लक्षणों को आधार बनाया जाता है, नक्षत्र मंडल को भी आधार बनाया गया है और चन्द्रगणना की तिथि को भी आधार बनाया गया है। गर्मी और सर्दी को भी आधार बनाकर उसके लक्षणों के आधार पर वर्षा का अनुमान किया जाता है। वर्षा और खेती के संबंध को लेकर लोकोक्तियों का इतना विस्तार है कि उसके आधार पर मेघविद्या का एक पूरा ठाठ खड़ा किया जा सकता है। वर्ष शब्द की जो अवधारणा है वह भी वर्षा से ही बनती है। बीज सृष्टि का एक रहस्य है जब कोई बीज धरती पर गिरता है, तब धरती की कोख से अंकुर फूटता है और धीरे-धीरे वह छोटा सा बीज

> धरती और बीज ऐसी ही परियोजना थी, जब यह परियोजना उन्होंने मुझे दी तो साफ कर दिया कि विश्वविद्यालयों की पद्धति में जो अनुशासन हैं, वे ज्ञान की परिधियां बनाते हैं और हम उनको स्वीकार नहीं करते। हमारे अध्ययन के केंद्र में जीवन है और प्रकृति है। हमें उसे समग्र रुप में देखना है, खंड खंड करके नहीं। अध्ययन की सामग्री लोकवार्ता से संबंधित थी, जो मैंने हाथरस के सत्तर गांवों के किसानों के बीच जाकर एकत्र की थी।

विशाल वृक्ष बन जाता है। बीज में एक से अनेक होने का संकल्प और उत्पादन अथवा प्रजनन की निरंतरता है। जिन वनस्पतियों के पास बीज नहीं है वह अपने अंग या अंश से ही अपने वंश का विस्तार कर लेते हैं, जैसे केला में बीज नहीं होता, तो उसकी गुड़िया जब एक बार लग जाती है, तो धरती में चारों ओर उसके अंकुर फूटने लगते हैं यही बात बांस के संबंध में कही जा सकती है। गुलाब या शहतूत की टहनी धरती में गाड़ी जाती है, तो उसकी प्रजनन शक्ति सक्रिय हो जाती है। अमरबेल की जड़ तो धरती में नहीं होती जिस वृक्ष पर वह एक बार गिर जाती है, उस वृक्ष से अपना भोजन प्राप्त करते हुए वह बेल पूरे वृक्ष पर फैल जाती है। आम जामुन जैसे बड़े वृक्षों की पौध लगाई जाती है, किंतु पीपल और बरगद जैसे वृक्ष पक्षी की बीट से पैदा होते हैं। पक्षी पीपल और बट का फल खाता है और बिना पचा हुआ बीज बीट के रूप में जम जाता है। बिसखपरा के पत्ते और खत्तुआ की फली गाय भैंस खाती हैं तथा उनके गोबर के साथ वह बीज एक जगह से चलकर दूसरी जगह पहुंच जाते हैं, बिखर जाते हैं। सेमल और आक के रुई वाले बीज हवा में उड़कर कोसों दूर पहुंचकर अपना वंश विस्तार करते हैं। बथुआ का बीज भी हवा पानी में चलता है और बिखरता है तथा अनुकूल मौसम आने पर पैदा हो जाता है। इस प्रकार बिना उगाये- उगने वाली वनस्पति को किसान लोग रानीफसल कहते हैं।

यदि हम धरती और बीज के बिंबों को आधार बनाएं तो हम देखेंगे कि उनके आधार पर मनुष्य ने सुख और दुख जीवन के कारण-तत्व की व्याख्या की है जैसे कर्म और उसके परिणाम के संबंध में हम बीज और फल के संबंध को देख सकते हैं। जिस प्रकार फल का कारण बीज है, उसी प्रकार जीवन में प्राप्त होने वाले सुख-दुख, लाभ हानि, जय पराजय आदि का कारण व्यक्ति का अपना कर्म होता है। फल शब्द कर्म के परिणाम और जीवन के पुरुषार्थ के लिए रूढ़ हो चुका है, हम कहते हैं सफलता और निष्फलता ,तो सफलता और निष्फलता दोनों अवधारणाओं में फल जुड़ा हुआ है, यह धरती और बीज के संबंध से अभिन्न है। वनस्पतिक-स्रोत का शब्द है- फल।जो जीवन में प्रत्येक कर्म से जुड़ा हुआ है, कर्म-फल का सिद्धांत। फल से अधिक उपयुक्त शब्द यहाँ कोई दूसरा नहीं है इसलिए लोकोक्तियों में निरंतर फल के बिंब को ही ग्रहण किया गया है जैसे-करनी करी तो क्यों करी कर के क्यों पछताय। बोया पेड़ बबूल का आम कहां ते खाय। तुलसीदास ने कहा- तुलसी काया खेत है मनसा भयौ किसान। पाप पुन्न दो बीज हैं, बुबै सो लुनै निदान। धरती और बीज के बिंबो के आधार पर जीवन की जो व्याख्या की गई है उसकी कुछ पंक्तियां, कुछ सूत्र प्रस्तुत हैं- जैसे सहज पके सो मीठा। इमली बूढ़ी हो जाएगी फिर खटाई तोहू न छोडेगी। नीम ना मीठे होंय सींच गुड़ घी ते। नदी किनारे रूखड़ा जब तब होय विनाश। लोकमानस का विश्वास और अधिक दृढ़ होता है कि प्रकृति का संविधान ईश्वर के अधीन है। लोकमन ने देखा-

अमरबेल बिन मूल की
प्रतिपालत है ताहि।
रहिमन ऐसे प्रभुहिं तजि
खोजत फिरियै काहि।

पुष्प की दो अवस्थाएं हैं, पुष्प फूलता भी है और कुम्हलाता भी है। इसी प्रकार से जीवन में सुख और दुख उदय और अस्त होता है। अब इसी प्रकार से जैसे वृक्ष में स्कंध है, शाखा-प्रशाखा, पत्र-पुष्प और फल हैं। लेकिन बीज में वे दिखाई नहीं देते हैं किंतु बीज में वे सूक्ष्म रूप में विद्यमान हैं। तो सूक्ष्म और विराट इन दोनों की अवस्थाओं की पहचान हुई। मनुष्य ने बीज से वृक्ष को बनते हुए देखा। इतना विस्तार बीज में समाहित है, उसमें पुनः नया बनने की क्षमता है, दो स्थितियां हैं बीज और वृक्ष दो नहीं है बीज सोया हुआ वृक्ष है और वृक्ष जगा हुआ बीज है।

इन बिंबो को शास्त्र ने लोक से ग्रहण किया है जैसे संसार- महीरुहस्य बीजाय। शास्त्रीय चिंतन ने विश्व की उत्पत्ति और विकास की जो भी व्याख्या की उसमें बीज और वृक्ष के बिम्ब को आधार बनाया। वेद में पीपल की डाल पर बैठे जीवात्मा और परमात्मा रूप दो पक्षी हों यों उपनिषदों का हिरण्यगर्भ हो अथवा पुराणों का वह सृष्टि -कमल हो, जिससे ब्रह्मा का जन्म हुआ। गीता में ऊपर जड़ तथा नीचे शाखा वाला अश्वत्थ वृक्ष हो, अथवा रामचरितमानस का संसार वृक्ष, बीज और वृक्ष के बिम्ब संपूर्ण भारतीय साहित्य दर्शन और कला में व्यापक रूप से विद्यमान हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में ईश्वर को ‘अव्यय बीज’ कहा गया है। सामान्य बीज से अंकुर पैदा होता है, तब बीज का वह स्वरूप नहीं रहता परंतु परमात्मा अव्यय-बीज है और अंकुर पैदा करने के बाद भी वह उसी प्रकार अपने स्वरूप में बना रहता है जिस प्रकार शून्य में से शून्य घटा देने पर शून्य तद्वत शेष रहता है। परमात्मा पूर्ण है और पूर्ण से पूर्ण की उत्पत्ति होने के बाद भी पूर्ण, पूर्ण ही रहता है। इसलिए गीता के शब्दों में परमतत्त्व अव्यय तथा सनातन बीज है-

प्रभव: प्रलय स्थानं निधानं बीजमव्ययम्।
यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।

छान्दोग्य उपनिषद में प्रसङ्ग है जब आरुणि अपने पुत्र श्वेतकेतु को तत्त्व का उपदेश करने लगे, तो बोले- “इस सामनेवाले वटवृक्ष से एक बड़ का फल ले आ।“ जब श्वेतकेतु बड़ का फल ले आया, तब बोले- “इसे फोड़ा।“ जब श्वेतकेतु ने बड़ के फल को फोड़ दिया, तब बोले- “इसमें क्या देखता है?”

श्वेतकेतु ने कहा, “भगवन्, इसमें ये अणु के समान दाने हैं।“ आरुणि ने पुन: उन दानों में से एक दाने को फोड़ने को कहा और फिर पूछा कि “इसमें क्या देखते हो?” श्वेतकेतु ने कहा- “कुछ नहीं।“ तब आरुणि ने समझाया कि- “हे सौम्य, इस वट-बीज की जिस अणिमा को तू नहीं देखता, उस अणिमा का ही यह इतना बड़ा वटवृक्ष है। यह जो अणिमा है, एतद्रूप ही यह सब है। वह सत्य है, वह आत्मा है और श्वेतकेतु ! वह तू है।“

छान्दोग्य उपनिषद का वटवृक्ष-प्रसंग इस दर्शन को अत्यंत सजीव रूप में प्रस्तुत करता है, जहाँ अदृश्य अणिमा से दृश्य विराट की उत्पत्ति का बोध कराया गया है—वह सत्य, वह आत्मा, और अंततः ‘तत् त्वम् असि’। इस प्रकार धरती और बीज का बिंब भारतीय ज्ञान-परंपरा में केवल उत्पत्ति का नहीं, बल्कि सर्जना, निरंतरता और समग्र जीवन-दर्शन का प्रतीक बन जाता है।

राजेंद्ररंजन चतुर्वेदी

उत्पत्ति और लोककथा अंतर्संबंध

डॉ. दीपा दत्तात्रय कुचेकर

लोक उत्पत्ति को जानने-समझने के लिए शब्दों की अद्भुत लीला को समझना होगा। मूलतः शब्दों के विज्ञान की कोई सीमा नहीं है। क्योंकि प्रत्येक शब्द के पीछे, हजारों वर्षों का, ध्वनि प्रतीकों का इतिहास समाया हुआ है। इतना ही नहीं तो सामाजिक परंपरा, रीति-रिवाज आदि के कारण समय-समय पर कई सूक्ष्म परिवर्तन भी देखने को मिलते हैं। शब्दों की यह यात्रा मानव जाति के अंत तक निरंतर रूप में रहेगी। विचारों के परिवर्तन और प्रकृति के विरूपण के साथ-साथ पुरानी परंपराओं के अंकित चिन्हों से नई परंपराएं उभरती रहेंगी।

उत्पत्ति और लोककथाओं के बीच इतना घनिष्ठ संबंध है कि उत्पत्ति के बिना लोक साहित्य का अध्ययन केवल वर्णित किया जा सकता है, वह साकार नहीं हो पाएगा। यह उत्पत्ति शास्त्रीय उत्पत्ति से कुछ अलग होगी। वैयकरण द्वारा निर्धारित उत्पत्ति शास्त्रीय उत्पत्ति है। तुलनात्मक भाषाविज्ञान इसके दायरे को और भी विस्तृत करता है। विदेशियों ने लोक-साहित्यशास्त्र में इसे लोक-उत्पत्ति का नाम दिया है। स्पष्टीकरणात्मक देव कथाओं में, कथा शब्दों के आधार पर ही निर्मित होती है। जैसे कालिदास ने कुमारसंभव में 'उमा' शब्द की उत्पत्ति उ + मा , माँ ने मत जा कहाँ इस कारण पार्वती को उमा कहाँ जाता है (उमेती मात्रा तपसो निषिद्धा। पश्चादुमाख्या सुमुखी जगम।।)

लोक उत्पत्ति के उदाहरण :

पृथ्वी

'ऋग्वेद में पृथ्वी शब्द की उत्पत्ति 'प्रथृ' से मिलती है, जिसका अर्थ है फैलाना। मही को पृथ्वी नाम इसलिए मिला क्योंकि इंद्र ने इसे उठाया और फैलाया। इसका उल्लेख तैत्तिरीय संहिता में मिलता है।'

महाभारत और पुराणों में पृथु वैना से उसका संबंध जोड़कर पृथु वैना ने उसका दोहन किया, खेती करना आरंभ किया इस कारण उसका नाम पृथ्वी हुआ।

मानुष शब्द की उत्पत्ति

शतपथ ब्राह्मण में, 'इन्धोह वै इंद्र इत्याचक्षते परोक्षं परोक्षप्रिया हि देवाः, यह कहकर 'इन्ध याने जलाना, या धातु से इन्ध याने प्रज्वलित करने वाला ' ऐसा कहा है। इन्ध का इन्द्रात देव परोक्षप्रिय होने से परिवर्तित हुआ। इन्ध यह नाम 'इंद्रिय' शब्द से भी संदर्भित पाया जाता है। 'पहले शेष था। फिर उसमें प्राण बना। उसने अपने इंद्रियों से अर्थात बल से जीवन का सृजन किया। उसे उत्तेजित या प्रज्ज्वलित कर उसका सृजन किया। ' इस कारण उसे इन्ध कहते है। निश्चित रूप से यह लोकउत्पत्ति 'इन्ध' और 'इन्द्रिय' इन दो शब्दों के विकल्प से ही लोकउत्पत्ति विभाजित हुई है इस में कोई शंका नहीं। लेकिन इस शब्द की तीसरी उत्पत्ति देवताओं के अप्रत्यक्ष प्रेम के कारण बनी है। 'इदं आदर्शम्' से इंद्र नाम बना है। क्योंकि इंद्र ने 'इसे देखा', इसलिए 'इदन्द्र' नाम बना और उससे इंद्र नाम प्रचलित हुआ।"

'अग्नि' शब्द की उत्पत्ति मूल 'अग्रि ' शब्द से हुई है। प्रजापति ने अंडा बनाया। उस अंडे में भ्रूण सर्वप्रथम ' अग्रि ' था। देवताओं के अप्रत्यक्ष प्रेम के कारण इसे अग्नि कहा जाने लगा। अंडे के तरल भाग, यानी आँसुओं से जो बना उसे वास्तविक आँसू कहा गया। लेकिन देवता उसे अश्व कहने लगे। इसी प्रकार, अंडे से जो निकला (रसः) वह रासभ बन गया।

गायत्री

गायत्री एक वैदिक छंद है 'गो+त्रा' इस पद से बना है। संहिता में इसका मूल अर्थ 'वाणी की रक्षा करने वाला' छंद के रूप में अपेक्षित है। लेकिन आगे चलकर 'गै' याने गीत इस धातु का आशय 'गायत्रं' इस शब्द में समाहित हुआ। शतपथ ब्राह्मण में कृतकृत्य हुई पृथ्वी गाने लगी 'गायनात् गायत्रम' के रूप में पृथ्वी को गायत्री कहा जाता है।

गायत्री का छंद स्त्रीलिंगी होने से गायत्री के अवतार की भी कल्पना की जाती है। शतपथ ब्राह्मण में गायत्री सुपर्णा का रूप धारणकर देवताओं के लिए स्वर्ग से, कृशानु से सोम ले आयी। समय के साथ गायत्री का शब्द रूप अर्थ परिवर्तित होता गया। 'गो' का अर्थ वाणी है, और इसका प्रयोग गाय के साथ लाक्षणिक रूप से किया गया है। गायत्री का पहला अर्थ वास्तविक गाय है, जो पुराणों में मिलता है। उदाहरण के लिए वायु पुराण में गाय अर्थात गायत्री यह रूपक मिलता है। ब्रह्म साधना में रत हुए महेश्वर के मुख से गाय निकली वह यही गायत्री है।

पौराणिक कथाओं में गायत्री अर्थात गाय का संरक्षण करनेवाली गोपकन्या यह संदर्भ मिलता है। पद्म पुराण में गायत्री को एक ग्वाले की पुत्री के रूप में दर्शाया गया है। वह सुंदर थी। ब्रह्मा को अनुराग हुआ। सावित्री रूठ गई और यज्ञ अधूरा रह गया। तब देवताओं की सहायता से उन्होंने गायत्री से विवाह किया और यज्ञ प्रारंभ किया। यह देखकर सावित्री क्रोधित हुई और देवताओं को संतानहीनता का श्राप दिया। इस रूप में गायत्री का पक्षी और गाय रूप लुप्त होकर स्त्री रूप स्थापित हो गया। गायत्री का रूप पंचमुखी स्त्री के रूप में कल्पित है। किन्तु जब हम इन पौराणिक कथाओं को छोड़कर लोककथाओं के क्षेत्र में प्रवेश करते हैं तब गायत्री का स्त्री रूप लुप्त होकर मात्र गाय रूप मिलता हैं।

सरमा

रामायण के उत्तरकांड में विभीषण की पत्नी सरमा का उल्लेख है। केवल उल्लेख ही नहीं 'सरमा' शब्द की उत्पत्ति भी शामिल है। वास्तव में सरमा शब्द ऋग्वेद में देवशूनी का पाठक इस रूप में आया है। लेकिन उस सरमा का नाम इस लड़की को दिया, इतना सरल अर्थ न देते हुए, इसके साथ एक कथा जोड़ी गई है। सरमा का जन्म मानसरोवर के किनारे हुआ था।

उत्पत्ति और लोककथाओं के बीच इतना घनिष्ठ संबंध है कि उत्पत्ति के बिना लोक साहित्य का अध्ययन केवल वर्णित किया जा सकता है, वह साकार नहीं हो पाएगा। यह उत्पत्ति शास्त्रीय उत्पत्ति से कुछ अलग होगी। वैयकरण द्वारा निर्धारित उत्पत्ति शास्त्रीय उत्पत्ति है। तुलनात्मक भाषाविज्ञान इसके दायरे को और भी विस्तृत करता है। विदेशियों ने लोक-साहित्यशास्त्र में इसे लोक-उत्पत्ति का नाम दिया है। स्पष्टीकरणात्मक देव कथाओं में, कथा शब्दों के आधार पर ही निर्मित होती है। जैसे कालिदास ने कुमारसंभव में 'उमा' शब्द की उत्पत्ति उ + मा , माँ ने मत जा कहाँ इस कारण पार्वती को उमा कहाँ जाता है।

वहीँ वह खेलती रहती थी। एक बार वर्षा हुई। झील का पानी बहने लगा। सारा प्रदेश जलमय हो गया। उस समय यह लड़की डरकर अपनी माँ से लिपट गई। माँ ने सर: मा - सरोवर नहीं, आगे आना नहीं, कहकर उससे विनती की। सरोवर का पानी पीछे हट गया। तब से उस लड़की का नाम सरमा पड़ा।

कुंती

महाभारत में पांडवों की माता का नाम कुंती है। लेकिन मालवा के भीलों के भोल्ला ईश्वर की कथा में इस नाम का प्रयोग विशेषण या संज्ञा के रूप में किया गया है। जिस स्त्री को अपने पति से संतान न होते हुए वह किसी अदृश्य शक्ति से गर्भवती हो जाती है तो उसे कुंती कहा जाना चाहिए यह संकेत इस कथा से मिलता हैं। आरंभिक काल में पृथ्वी पर हंस और हंसी नाम का एक जोड़ा रहता था। संतान न होने से वह दुखी था। तप साधना से वह हंसी भगवान बागवान के दिव्य उद्यान में गई। उस उद्यान के फूल भविष्य के मानव संतान थे। भगवान ने हंसी को एक फूल दे दिया। उसे खाकर वह गर्भवती हुई और उसे भोल्ला ईश्वर नामक एक मानव संतान हुई। इस कहानी में हंसी को कुंती कहा गया है। कथाकार का कहना है कि भोल्ला ईश्वर के पिता कौन हैं यह ज्ञात न होने के कारण उनका नाम कुंती पड़ा। कुंती के हिस्से आए नियोग संबंधों का परिपाक लोककथाओं में इस प्रकार मिलता है।

मंगेशा

मंगेश या मांगीश नाम कैसे बना इस संदर्भ में स्कंदपुराणोक्त कथा इस प्रकार है, पुराने समय में कुशस्थली (कुडाळ) में एक छोटे से कंदरा में एक शिवलिंग प्रकट हुआ। उस शिवलिंग पर एक गाय हररोज दूध की धारा बहाती थी। ग्वाले ने यह चमत्कार अपने स्वामी शिवशर्मा को बताया। लोमशर्मा और शिवशर्मा दोनों गौड़ ब्राह्मण कुशावती नदी के किनारे बस गए। वहीं उनका जप-तप चलता रहा। शिवशर्मा को दृष्टांत हुआ कि गाय जिस पर दुग्धाभिषेक करती है वह शिवलिंग है जो उनकी तपस्या के फलस्वरूप प्रकट हुआ है। यही वर्तमान का मंगेश का स्थान है। मांगिश की कथा इस प्रकार है - एक बार जब पार्वती इस क्षेत्र में अकेली विचरण कर रही थीं तब शिव ने बाघ रूप धारण कर उन्हें भयभीत किया। उस समय पार्वती को 'माँ गिरीश त्राही' कहना था किन्तु भय के कारण उनके मुख से केवल 'मांगिश' शब्द ही निकला। तद्पश्चात शिव ने अपना रूप प्रकट किया और वह वहीं विराजमान हो गए।

पटना गाँव के नाम की उत्पत्ति में कई परिवर्तन हुए हैं। इस शहर का मूल नाम पाटलिपुत्र है। इस पाटलिपुत्र के बारे में भी कई किंवदंतियाँ प्रचलित हैं। कथासरित्सागर में दक्षिणपथ के एक ब्राह्मण का पुत्र पुत्रक, पाटली राजकन्या के साथ विवाहबद्ध होता है। बाद में वह उस देश का राजा बनता है। पाटली और पुत्रक नामों को मिलाकर पाटलिपुत्र शहर प्रसिद्ध हुआ। परिशिष्टपर्व में कहा गया है कि इस शहर का नाम पाटलिपुत्र इसलिए पड़ा क्योंकि पाटलि वृक्ष का बीज अन्निकापुत्र या यति की खोपड़ी में जड़ पकड़ गया इस कारण इस शहर को पाटलीपुत्र नाम मिला।

सावित्री रत्नगिर

गायत्री की कथा का पर्याय पुष्कर सरोवर के क्षेत्र में राजस्थान की दंतकथा में मिलता है। ब्रह्मा ने यज्ञ करने का निश्चय किया। दक्षिण में रत्नागीर, उत्तर में नीलगीर, पूर्व में कूटचत्कर गिर और पश्चिम में सोनचुरु इस रूप में चार पर्वतों के बीच में ब्रह्मा ने यज्ञ स्थल रखा। एक द्वारपर नंदा (नंदी), दूसरे द्वारपर कन्हैया किन्तु सावुंत्री कहीं दिखाई नहीं दे रही थीं। उस समय एक गुजरी ने ब्रह्मा के साथ यज्ञ में हिस्सा लिया। यह देखकर सावित्री या सावुंत्री क्रोधित हुई और रत्नागीर पर्वत में लुप्त हो गई। इस क्षेत्र में एक जलस्त्रोत उत्पन्न हुआ जिसका नाम सावित्री है। इस के पास ब्रह्मा पुष्कर सरोवर का निर्माण हुआ। यह कथा पद्म पुराण में वर्णित कथा का लघु संस्करण है। मूल कथा में, नंदा (यानी ग्वाला) को लोक उत्पत्ति के आधार पर नंदा या नंदी में रूपांतरित किया गया है।

(बलनिक/वाल्मीकि)

लालबेगी भंगी की उत्पत्ति के बारे में एक कथा प्रचलित है कि पांडवों ने कौरवों की हत्या की इस कारण उन्हें पाप लगा। प्रायश्चित के रूप में पांडव बर्फ में पिघलकर मरने के लिए हिमालय की ओर चल पड़े। रास्ते में उनकी गाय मर गई। उन्होंने नकुल से कहा, "बलनिक (अच्छे बच्चे), तुम इस शव को शेष कर दो। हम तुम्हें उपेक्षित नहीं करेंगे।" नकुल गाय के पास बैठकर रोने लगा। गाय जीवित हो उठी। वह उसका दूध पीकर बड़ा हुआ। बाद में, गाय मर गई और वह रोने लगा तब आकाशवाणी हुई - "रो मत, बलनिक, तुम गाय की खाल से एक सूप और एक छलनी बनाओ, उसे बेंचो, लोगों को पीसने और छानने की कला सिखाओ।" नकुल वाल्मीकि के समान ऋषि बन गए। उन्होंने लोगों को रोटी बनाने की कला सिखाई। इसीलिए उन्हें सूप का भगत कहा जाता है। संस्कृत के 'श्वपाच' का 'सुपाच' एक ही शब्द है जिसका अर्थ 'सूप' और सुपशास्त्र है। श्वपाच का अर्थ चांडाल है।

तुंगभद्रा

तुंगभद्रा नदी के नामकरण की कथा इस प्रकार है- जब हिरण्याक्ष दैत्य पृथ्वी को पाताल लोक में ले गया, तो देवताओं को उनका हिस्सा नहीं मिला। इसलिए उन्होंने विष्णु से शिकायत की। विष्णु ने वराह रूप धारण किया और पृथ्वी को उठाया। उस समय वे थक गए और वेदपाद पर्वत पर थोड़ी देर विश्राम किया। उसी समय न जाने कैसे उस वराह का एक दांत टूट गया। उससे भद्रा नाम की नदी निकली। दूसरा बायां दांत पहले वाले से लंबा था। उससे तुंगा नाम की एक और नदी निकली। इन दो नदियों के संगम से तुंगभद्रा नदी बनी।

कलकत्ता

कलकत्ता नाम का स्पष्टीकरण भविष्योत्तर पुराण की एक कथा में मिलती है। दक्ष यज्ञ में सती या काली की मृत्यु के बाद जिस स्थान पर उनका शरीर गिरा, वह 'कालीक्षेत्र' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। कालीक्षेत्र का अपभ्रंश रूप कलकत्ता है।

पटना

पटना गाँव के नाम की उत्पत्ति में कई परिवर्तन हुए हैं। इस शहर का मूल नाम पाटलिपुत्र है। इस पाटलिपुत्र के बारे में भी कई किंवदंतियाँ प्रचलित हैं। कथासरित्सागर में दक्षिणपथ के एक ब्राह्मण का पुत्र पुत्रक, पाटली राजकन्या के साथ विवाहबद्ध होता है। बाद में वह उस देश का राजा बनता है। पाटली और पुत्रक नामों को मिलाकर पाटलिपुत्र शहर प्रसिद्ध हुआ। परिशिष्टपर्व में कहा गया है कि इस शहर का नाम पाटलिपुत्र इसलिए

पड़ा क्योंकि पाटलि वृक्ष का बीज अग्निकापुत्र या यति की खोपड़ी में जड़ पकड़ गया इस कारण इस शहर को पाटलीपुत्र नाम मिला। लौकिक दंदकथा के अनुसार पाटलिपुत्र राजधानी का नाम इसलिए पड़ा क्योंकि पुत्रका या पुत्रक का विवाह पाटलि से हुआ था। पुत्र के पुत्र का नाम कुसुम था। उसने इस गाँव का नाम कुसुमपुर रखा। कुसुम के पुत्र का नाम पाटन और पुत्री का नाम पाटना रखा गया। पाटन राजा ने गाँव का नाम पाटन रखा। पाटना अजीवन ब्रह्मचारिणी थीं। वे गाँव की देवी बन गई। इस कारण इस गाँव का नाम पटना पड़ गया।

चालुक्य

ऐतिहासिक दंतकथा की जड़ में लोक उत्पत्ति के दो उदाहरण हैं। एक चालुक्यों का और दूसरा बुंदेल्यों का। इनमें परंपरागत रूप में 'चालुक्य' शब्द 'चुलुका' शब्द से अस्तित्व में आया। विक्रमाङ्कदेव चरित में बिल्हन द्वारा वर्णित कथा यह है कि इंद्र संसार में धर्म के लुप्त होने से व्याकुल हो गए। वे ब्रह्मादेव के पास गए और उनसे धर्मरत वीरपुरुष की उत्पत्ति का निवेदन किया। ताकि पृथ्वी का कल्याण हो और देवताओं को यज्ञभाग मिले। ब्रह्मादेव स्वयं एक चुलुक से उत्पन्न हुए थे। उस समय, ब्रह्मादेव ने संध्या सूर्य के जल का पात्र अपने हाथ में लेकर उस पर ध्यान लगाया। इसके साथ ही, उस चुलुक से एक बलवान और तेजस्वी वीर प्रकट हुआ। चूलुका वंश से उत्पन्न इस वीर के वंश को चालुक्य वंश के नाम से जाना जाने लगा।

गणगौर

राजस्थान में महिलाएं भाद्रपद-अश्विन माह में देवी गणगौर का त्योहार मनाती हैं। गणगौर, 'गंगा-गौरी' का बिगड़ा हुआ रूप है।

बालोण

बालोण मालवा प्रांत की एक तहसील है और इसका नाम बालाबाऊ या बालाबहू शब्द से बना है। मालवा के राजा ओड ने वहां एक तालाब खुदवाया। लेकिन उसमें पानी नहीं मिला। अंत में जब बालाबहू और उनके पति ने आत्मबलिदान किया तब तालाब पानी से भर गया। तब से इस गांव का नाम बालोण पड़ गया।

सोरम

यह गांव वाराही और मथुरा के बीच स्थित है। पहले इसका नाम उकल क्षेत्र था। लेकिन यहां जब वराहवतार ने राक्षस हिरण्याक्ष दैत्य का वध किया तो गांव का नाम बदलकर सुकर या सूकर क्षेत्र हो गया। सुकर का अर्थ वराह या सूअर होता है। सुकर या सूकर का अर्थ अच्छा कर्म करने वाला है। जो इस शब्द में दोहरा अर्थ प्रतीत होता है। सोरम यह सुकरग्राम का अपभ्रंश है।

बुंदेला

राजस्थान की लोककथाओं में बुंदेला शब्द की उत्पत्ति भी अलग-अलग तरह से मिलती है। राजपूत परंपरा के अनुसार, बुंदेला नाम 'बंद' शब्द से लिया गया है। इसके बारे में दो कथाएँ हैं –

1. काशी के सूर्यवंशी राजा पंचम को उनके दायादांनी ने गद्दी से हटा दिया था। एकांत में भटकते हुए वे विंध्याचल पर देवी विन्ध्यवासिनी के मंदिर पहुँचे। वहाँ उन्होंने अनुष्ठान किया और प्रतिज्ञा पूरी करने के लिए देवी को कमल का फूल अर्पित करने का निश्चय किया और इस प्रकार उन्होंने तलवार से अपना गला काटना शुरू कर दिया। उनके गले से खून की बूँदें टपकने लगीं। यह देखकर देवी प्रसन्न हुई और उन्होंने उन्हें बलिदान से परावृत्त किया। 'तुम्हें तुम्हारा राज्य वापस मिल जाएगा ' उसे आशीर्वाद दिया। पंचमा के शरीर से टपकती रक्त की बूँद की स्मृति में उनके वंशजों ने बुंदेले नाम अपना लिया।
2. कैप्टन पोगसन ने अपनी पुस्तक 'छत्रप्रकाश' में निम्नलिखित कथा दी है - जब राजा पंचमा ने अपनी तलवार अपने गले पर रखी, तो देवी ने उन्हें आत्महत्या करने से परावृत्त किया। परन्तु रक्त की एक बूँद नीचे गिरी। देवी ने उस पर अमृत छिड़का। उससे एक बच्चा हुआ। उस बच्चे को देवी माँ ने स्तनपान कराया और उसे बलवान बनाया। निःसंतान पंचमा को यह पुत्र हुआ। उसका नाम बुंदेला था।

यमई, तुकाई

स्थानीय कथाओं में यमई और तुकाई से संबंधित महाराष्ट्रीयन कहानी है। जब रावण ने सीता का अपहरण किया था, तब राम दंडकारण्य में घूमते हुए तुलजापुर क्षेत्र में आए थे। वहाँ पार्वती जी सीता का रूप धारण करके उनकी परीक्षा लेने उनके सामने आई। लेकिन राम ने उन्हें पहचान लिया और देवी को 'ये माई' कहकर संबोधित किया। फिर पार्वती उनके सामने प्रकट हुई और वहीं रहने लगीं। उस देवी का नाम ये माई से यमाई हुआ। यही कथा भावार्थ रामायण में तुकाई से जुड़ी हुई है। राम ने पार्वती से पूछा, तू का आई?' आर्थात माँ तुम क्यों? और वह तुकाईदेवी के रूप में वहीं रहीं।

यह सभी कहानियां निःसंदेह अत्यंत मनमोहक हैं। सत्य यह है कि मानव- बुद्धि, परिश्रम और कौशल से अनंत सौंदर्य का सृजन कर सकते हैं। सत्य से ही भव्यता और शाश्वत नैतिक मूल्यों का जन्म होता है। मानव प्रगति होती है।

सहायक संदर्भ ग्रंथ :

- लोकसाहित्याची रुपरेखा – दुर्गा भागवत, वरदा बुक्स पुणे, पाचवी आवृत्ती 2021
- Macdonell, Vedic Mythology
- Max Muller, The Science of Language, I.
- Macdonell, Vedic Mythology
- शतपथ ब्राह्मण, 6. 1. 12
- ऐतरेय उपनिषद, 3. 13-14)
- शतपथ ब्राह्मण, 5. 1. 1. 1; इसी ब्राह्मण में अश्व और अश्व की उत्पत्ति से उत्पन्न एक अन्य उत्पत्ति, अश्व, भी पाई जाती है। अश्व और अश्व की धर्मनिरपेक्ष उत्पत्तियों में यह समानता उल्लेखनीय है। (6. 2. 1. 10)
- ऐतरेय ब्राह्मण, 7. 28.
- शतपथ ब्राह्मण, 1. 1. 1. 1.
- शतपथ ब्राह्मण, 1.7. 1.1.
- ऐतरेय ब्राह्मण में गायत्री पंखों और प्रकाशमय आँखों वाली चिड़िया है। (4. 23.)
- वागले, श्रीमंगेश देवस्थान का संक्षिप्त इतिहास

क.का.वाघ कला, विज्ञान एवं
वाणिज्य महाविद्यालय
पिंपलगाँव (ब),
तह. निफाड, जि. नाशिक महाराष्ट्र
drdeepakuchekar@gmail.com

जमाल और कमाल शब्द सौन्दर्य और पूर्णता : ज-म-ल और क-म-ल का भाषा शास्त्रीय संवाद

अजीत बडनेरकर

भूमिका : जब “सुंदर” और “पूर्ण” एक ही नाड़ी पर धड़कते हैं मानव-भाषा केवल संचार का माध्यम नहीं; वह किसी सभ्यता की दृष्टि, माप और सौंदर्यबोध की भी वाहक होती है। हिन्दी-उर्दू में दो शब्द-जमाल और कमाल-पहली नज़र में अलग-अलग अर्थ-क्षेत्रों के लगते हैं; एक “रूप-सौन्दर्य” का पर्याय, दूसरा “पूर्णता/सिद्धि” का। किंतु भाषा और विचार के भीतर उतरें, तो इन दोनों में एक साझा नाड़ी धड़कती मिलती है: जो वस्तु सबसे अधिक उपयुक्त, संगत और संतुलित है, वही सुंदर है; और जो वस्तु सुंदर है, वह वस्तुतः सम्यक्-रूप से पूर्ण भी है।

इस आलेख का उद्देश्य यही दिखाना है कि अरबी मूल की दो ध्वनि-संरचनाएँ-ज-म-ल (ج-م-ل) और क-म-ल (ك-م-ل)-शब्दकोशों और परम्परागत व्याख्याओं में भले स्वतंत्र प्रविष्टियाँ हों, पर भावगत स्तर पर उन्हें एक ही उद्गम-भूमि की दो धाराएँ मानकर पढ़ा जा सकता है: पहली धारा “अनुपात में सौन्दर्य” को व्यक्त करती है, दूसरी “साधित पूर्णता” को। इस बहस को हम भाषिक साक्ष्यों, अर्थ-विकास और सांस्कृतिक-दार्शनिक अन्विति के क्रम में रखते हुए प्रमाणिकता और पठनीयता-दोनों का संतुलन साधेंगे, ताकि अध्येता (peer) और सामान्य पाठक-दोनों के लिए यह लेख एक साथ उपयोगी बन सके।

यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि यह लेख अरबी का गहन व्याकरणिक विवेचन प्रस्तुत करने का दावा नहीं करता। हमारा प्रस्थान-बिंदु हिन्दी-उर्दू के शब्द हैं-और चूँकि वे ऐतिहासिक रूप से अरबी-फ़ारसी के रास्ते आए हैं, इसलिए विवेचन स्वाभाविक रूप से उस भाषिक धरातल तक जाता है जहाँ से वे चले। यही विस्तार इस लेख की आवश्यकता है, प्रदर्शन नहीं।

सामी (सेमिटिक) भाषाओं की दुनिया

जिन भाषिक संकेतों पर यह लेख टिकता है, उनका ऐतिहासिक संदर्भ जिस भाषा-परम्परा से जुड़ता है, उसे भाषाविज्ञान में Semitic कहा जाता है। हिन्दी में इसे प्रायः सामी भाषाएँ/सामी भाषा-परिवार भी कहा जाता है। यह विश्व के प्राचीनतम भाषा-कुटुम्बों में से एक माना जाता है-ठीक उसी तरह जैसे भारतीय परम्परा में संस्कृत और उससे सम्बद्ध भाषाएँ एक दीर्घ ऐतिहासिक निरन्तरता का प्रतिनिधित्व करती हैं।

इस परम्परा का ऐतिहासिक विस्तार मुख्यतः अरब प्रायद्वीप, नील नदी का क्षेत्र, तथा उत्तरी अफ्रीका का वह भूभाग रहा है जो आज के मिस्र से लेकर सहारा के उत्तर और मोरक्को तक फैला है। अरबी, हिब्रू, अरामी/सीरियक, अक्कादी जैसी भाषाएँ इसी परम्परा की प्रमुख प्रतिनिधि हैं। आगे के विवेचन में हम “सामी भाषा-परम्परा” या “सामी भाषाएँ” जैसे पदों का प्रयोग केवल इसी सीमित और आवश्यक संदर्भ में करेंगे।

सामी भाषाओं-अरबी, हिब्रू, अरामी/सीरियक, अक्कादी आदि-की एक प्रसिद्ध विशेषता यह है कि शब्द-परिवार अक्सर कुछ मूल व्यंजनों के आसपास विकसित होते हैं। इन मूल व्यंजनों का समूह एक अर्थ-क्षेत्र को बाँधता है, और उसी अर्थ-क्षेत्र के भीतर संज्ञा-क्रिया-विशेषण जैसी अनेक शैलियाँ बनती हैं। ज-म-ल और क-म-ल को हम इसी व्यापक पृष्ठभूमि में देखते हैं।

ज-म-ल के अर्थ-क्षेत्र में समुच्चय/योग (जुम्ला), अनुपात और सौन्दर्य (जमाल/जमील), तथा ऊँट (जमल) के बिंब एक साथ दिखाई देते हैं; क-म-ल में पूर्ण/परिपूर्ण होना (कमाल), किसी कार्य का पूरा कर दिया जाना (मुकम्मल), और पूर्ण करने की प्रक्रिया (तकमीला/इक्माल) प्रमुख हैं।

भाषिक इतिहास का एक साधारण, पर महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि भाषा-परम्पराओं के प्रसार और परस्पर सम्पर्क में कुछ ध्वनियाँ-विशेषकर उच्चारण की दृष्टि से निकट-कभी-कभी रूप बदलती रही हैं। सामी से यूनानी-लैटिन-यूरोपीय संचरण में g/j/k जैसी ध्वनियों के रूपान्तरण के उदाहरण मिलते हैं। हिब्रू gamal यूनानी के kamelos, लैटिन के camelus और अंग्रेज़ी के camel तक पहुँचता है; अरबी में वही ऊँट jamal (جمل) है।

इस उदाहरण से इतना संकेत अवश्य मिलता है कि ज-ग-क जैसी ध्वनियों के बीच ऐतिहासिक रूपान्तरण की गुंजाइश रही है। इससे यह निष्कर्ष निकालना ज़रूरी नहीं कि हर स्थिति में ये “एक ही मूल” हैं; पर यह तथ्य हमारे सामने एक विवेचनात्मक संभावना रखता है: ज-म-ल और क-म-ल के “पहले व्यंजन” का भिन्न रूप दिखते हुए भी, अर्थ-क्षेत्र में उनका केन्द्रीय बल-संगति, उपयुक्तता, सुदृढ़ता और पूर्णता-कई जगह एक-दूसरे के निकट आता है। क्लासिकल अरबी शब्दकोश इन्हें अलग जड़ें मानते आए हैं; पर ध्वन्यात्मक निकटता और अर्थ-साम्य के सम्मिलित संकेत हमें यह विचार प्रस्तुत करने की गुंजाइश देते हैं कि दोनों धाराएँ एक ही भावभूमि की हो सकती हैं-उद्गम समान हो, भले उच्चारण-मार्ग अलग-अलग बने हों।

भाषाशास्त्र में यह स्थापित तथ्य है कि सामी भाषाओं से यूनानी और फिर लैटिन में शब्दों के संचरण के दौरान कुछ व्यंजनों का ध्वन्यात्मक रूपान्तरण हुआ है। हिब्रू gamal से यूनानी kamelos और लैटिन camelus होते हुए अंग्रेज़ी camel तक की शृंखला इस प्रक्रिया का सुविदित उदाहरण है (देखें: Online Etymology Dictionary; Brown–Driver–Briggs Hebrew Lexicon)। अरबी jamal (جمل) और हिब्रू gamal का समान अर्थ-ऊँट-सामी स्तर पर g और j के भेद को दर्शाता है। इस प्रकार g/j/k ध्वनियों के बीच ऐतिहासिक निकटता (phonetic proximity) के उदाहरण उपलब्ध हैं। यह निकटता किसी भी स्थिति में स्वतः “एक ही मूल” (single etymological origin) का निष्कर्ष अनिवार्य नहीं करती, परन्तु यह अवश्य दिखाती है कि ध्वन्यात्मक दृष्टि से इन व्यंजनों के बीच रूपान्तरण की सम्भावना भाषिक इतिहास में रही है। इसी पृष्ठभूमि में ज-म-ल और क-म-ल जैसी ध्वनि-संरचनाओं को अर्थसाम्य (semantic overlap) के आलोक में साथ रखकर देखना एक वैध विवेचनात्मक प्रस्ताव बनता है।

ज-म-ल : उत्तम अनुपात यानी सौन्दर्य

ज-म-ल की एक बड़ी ख़ूबी यह है कि इसके अंतर्गत "जुम्ला" (جملة) जैसे शब्द आते हैं-समुच्चय, योग, वाक्य। वाक्य इसलिए "जुम्ला" है कि वह अनेक शब्दों के समुचित संयोजन से अर्थ की पूर्णता रचता है। इसी धातु का दूसरा रूप "जमाल/जमील/अजमल" (सौन्दर्य, सुंदर/अधिक सुंदर) है। यहाँ सौन्दर्य का भाव केवल इंद्रिय-रंजन नहीं, बल्कि अनुपात, संतुलन और औचित्य में निहित परिपूर्णता है।

अरबी संसार में ऊँट (जमल) के उदाहरण को देखिए-वह केवल "सुंदर" नहीं, बल्कि मरुस्थलीय जीवन-पर्यावरण के लिए सर्वथा उपयुक्त, संगत और इसलिए "सौंदर्यसंपन्न" है। ऊँट का कद, काठी, चाल, सहन-शक्ति, जल-संरक्षण, खुरों की बनावट-सब मिलकर एक ऐसा समुच्चय रचते हैं जो वातावरण और प्रयोजन के साथ "फिट" बैठता है; इस फिटनेस का नाम ही वहाँ सौन्दर्य है। यही कारण है कि जमाल को समझने के लिए "योग" और "अनुपात"-दोनों सूत्र महत्त्वपूर्ण हैं।

ज-म-ल का यह रूपक दार्शनिक भी है: जो वस्तु अपने प्रयोजन और संदर्भ के साथ सर्वाधिक संगत है, वही सुंदर है। यह दृष्टि केवल अरबी तक सीमित नहीं। भारतीय शिल्पशास्त्र, नाट्यशास्त्र और वास्तु-परम्परा भी अनुपात और सम-विन्यास को ही सुंदरता का आधार मानती आई है। अनुपात भंग हुआ तो रूप भंग, और रूप भंग तो अर्थ भंग। इस तरह ज-म-ल की धुरी "समुचितता" है-समुचित संयोजन से उपजा रूप, जो अपने प्रयोजन को न केवल पूरा करता है बल्कि उसे सहज-रूप से प्रकट भी करता है।

क-म-ल : सिद्धि में सुंदर-जब प्रक्रिया पूर्णता तक पहुँचती है

क-म-ल की धुरी "पूर्ण होना/कर देना" है। कमाल (كمال) उस उच्चतम स्थिति का नाम है जहाँ कुछ बचा न रहे-गुण, कार्य, ज्ञान-जिस क्षेत्र में भी यह शब्द लगे। इसका क्रियात्मक-कर्म रूप "मुकम्मल" (مكمّل) है-वह जिसे पूर्ण कर दिया गया; और प्रक्रिया-सूचक रूप "तकमीला/इक़माल"-पूर्ण करने की क्रिया। क़ुरानी और क्लासिकल प्रयोगों में यह शब्द सुगठित, स्थिर और परिपूरित अवस्था का संकेत देता है, जहाँ घटक एक-दूसरे के साथ ऐसे जड़ जाते हैं कि एक अखंड एकत्व सामने आ जाता है। फ़ारसी में "बा-कमाल" (बाकमाल)-"पूर्णता सहित"-सम्मान और प्रशंसा का प्रचलित उपवाक्य बन जाता है।

उर्दू-हिन्दी में अर्थ-विस्तार के साथ "कमाल" विस्मय/अचरज/ग़ज़ब की अभिव्यक्ति भी बनने लगता है-"कमाल की बात!"-पर वहाँ भी आश्चर्य का बीज "उच्चतम/असाधारण" की धुरी से ही अंकुरित है। क-म-ल इस अर्थ में प्रक्रिया-केंद्रित है: जहाँ ज-म-ल "रूप" के अनुपात से सुंदरता में ले जाता है, वहीं क-म-ल "भाव" और "कार्य" की परिपक्वता से पूर्णता में। इसीलिए "मुकम्मल दस्तावेज़/मुकम्मल योजना" जैसी संज्ञाएँ स्वाभाविक लगती हैं-यहाँ सौन्दर्य की कसौटी रूपात्मक नहीं, परिणामात्मक है: काम का पूरा, शर्तों का सम्यक्-निर्वाह, घटकों का अंतिम संहत-विन्यास।

साझा केंद्रीय अर्थ : "सम्पूर्णता"-रूप में भी, भाव में भी

अब प्रश्न यह नहीं रह जाता कि ज-म-ल और क-म-ल शब्दशास्त्रीय दृष्टि से एक ही धातु हैं या दो; प्रश्न यह है कि उनके अर्थ-क्षेत्र का केंद्रीय अर्थ (semantic core) क्या कहता है। दोनों धातुओं के शब्द-परिवारों में "सम्पूर्णता" का भाव स्पष्ट रूप से उभरता है-ज-म-ल में वह "समुच्चय, संगति और अनुपात" के रूप में व्यक्त होता है, जबकि क-म-ल में "पूर्णता, सिद्धि और परिपूर्ति" के रूप में।

उदाहरण के लिए, "जुम्ला" (वाक्य) तभी अर्थवान् होता है जब उसके अंग-प्रत्यंग उचित क्रम और विन्यास में हों; उसी प्रकार "मुकम्मल" कार्य तभी पूर्ण माना जाता है जब शर्तें, अनुक्रम और प्रयोजन समवेत रूप से साधे गए हों। इन दोनों स्थितियों में "सम्पूर्णता" अलग-अलग स्तरों पर-रूपात्मक और परिणामात्मक-प्रकट होती है। अतः यहाँ प्रतिपाद्य "एक ही मूल" नहीं, बल्कि अर्थसाम्य (semantic overlap) के आधार पर उभरती एक साझा भावभूमि है।

ध्वन्यात्मक प्रश्न पर भाषा शास्त्रीय उत्तर : एक मूल या दो?

क्लासिकल अरबी शब्दकोश-परम्परा ज-म-ल और क-म-ल को स्वतंत्र धातुओं के रूप में प्रस्तुत करती है-यह तथ्य इस अध्ययन में स्वीकार किया गया है। उपलब्ध शब्दकोशीय स्रोतों में किसी प्रविष्टि में दूसरी धातु का प्रत्यक्ष हवाला नहीं मिलता। अतः यह अध्ययन "व्युत्पत्तिगत एकत्व" (etymological identity) का दावा नहीं करता। परन्तु सामी भाषाओं से यूनानी और लैटिन में शब्दों के ऐतिहासिक संचरण में g/j/k जैसे व्यंजनों के रूपान्तरण के उदाहरण भाषाशास्त्र में सुविदित हैं। gamal → kamelos → camelus → camel की शृंखला, तथा अरबी jamal और हिब्रू gamal का समान अर्थ-ऊँट-इस ध्वन्यात्मक परिदृश्य को स्पष्ट करते हैं।

इस पृष्ठभूमि में, ज-म-ल और क-म-ल के बीच ध्वनिसाम्य (phonetic similarity) और अर्थसाम्य (semantic overlap) को साथ रखकर देखने पर यह प्रस्ताव उभरता है कि "सम्पूर्णता" दोनों के लिए एक साझा केंद्रीय अर्थ के रूप में कार्य करती है। अतः यहाँ प्रतिपाद्य निष्कर्ष यह नहीं कि दोनों धातुएँ व्युत्पत्तिगत रूप से एक हैं, बल्कि यह कि एक ही भावभूमि अलग-अलग भाषिक शैलियों में व्यक्त हुई है- कहीं अनुपात-सौन्दर्य के रूप में, कहीं साधित-पूर्णता के रूप में।

भारतीय परिप्रेक्ष्य : अनुपात-सुंदरता से सिद्धि-सुंदरता तक

भारतीय शास्त्रों में रूप-सौन्दर्य की कसौटी अनुपात और सम-विन्यास रहे हैं; शिल्प-सूत्रों में अङ्गुल-मान, आयाम, ताल, मुद्रा-सब "उचित" होगा तभी रूप "सुंदर" माना गया है। यही "उचित-रूप ही सुंदर" का सिद्धान्त ज-म-ल के "अनुपात में सौन्दर्य" से तालमेल बैठाता है।

उधर साधना-परम्परा में "सिद्धि/परिपूर्णता"- चाहे वह व्याकरण हो, काव्य हो, योग हो या कर्म- "पूर्णत्व" का बोध कराती है, जो क-म-ल की धुरी से मेल खाता है। इसलिए हिन्दी-उर्दू मुहावरों में "कमाल का काम" और "मुकम्मल होना" दोनों अलग-अलग जोर देते हैं- पहला उत्कृष्टता/असाधारणता पर, दूसरा संपूर्णता/समापन पर-पर दोनों की जड़ में "पूर्णता" की ही पहचान है: या तो "पूर्णता का अचरज" (कमाल) या "पूर्णता का निर्वाह" (मुकम्मल)।

युग्मावलियाँ और अर्थ-पुल : जमाल-कमाल, जुम्ला-मुकम्मल, जमील-कमील

भाषा स्वयं अक्सर वह कह देती है जिसे विद्वान् बाद में सूत्रबद्ध करते हैं। उर्दू-फ़ारसी काव्य-परम्परा में "जमाल-ओ-कमाल" जैसी युग्मावलियाँ स्वाभाविक हैं; "हुस्न-ओ-कमाल" भी उसी भाव का विस्तार है-रूप-सौन्दर्य और गुण-पूर्णता साथ-साथ।

इसी तरह "जुम्ला" (समुच्चय/वाक्य) बनाम "मुकम्मल" (पूर्ण किया गया) अर्थ-पुल बनाते हैं-एक में रूपात्मक संहत-विन्यास, दूसरे में क्रियात्मक संहत-समापन। "जमील" (सुंदर) और "कमील/अकमल" (अधिक पूर्ण) की युग्मता भी सूचित करती है कि भाषा ने इन दोनों धाराओं को परस्पर प्रतिद्वंद्वी नहीं, पूरक माना है-दो आँखें, एक दृष्टि।

अध्ययन और अध्येता : प्रमाण, परिशुद्धता और प्रस्तुति

अकादमिक ईमानदारी की माँग है कि हम दो बातें एक साथ रखें। पहली: क्लासिकल शब्दकोश-परम्परा ज-म-ल और क-म-ल को अलग धातुएँ मानती है; शब्दकोश प्रविष्टियाँ, क़ुरानी/हदीसी प्रयोग, फ़िक़्ह/बालाग़त की शैक्षिक परम्परा-सब इसी पद्धति में चले हैं।

दूसरी: सामी-यूनानी-लैटिन संचरण में ज-ग-क का साक्ष्य, और दोनों जड़ों में "सम्पूर्णता" की साझा अर्थ-नाड़ी, हमें यह वैचारिक अधिकार देती है कि हम इनके बीच "अवधारणात्मक रिश्तेदारी" का तर्क प्रस्तुत करें-रूप और भाव के संदर्भों में। अध्येता-पाठक के लिए यह प्रस्तुति तभी विश्वसनीय बनती है जब हम स्पष्ट कह दें कि हमारा दावा "एटिमोलॉजिकल आइडेंटिटी" नहीं, बल्कि "सामान्य भाव-गंगोत्री" है-और उस दावे के समर्थन में ध्वन्यात्मक सान्निध्य के उदाहरण, अर्थ-सरणियों की समान दिशा और युग्मावलियों के जीवंत प्रयोग रखे जाएँ। तब लेख शोध-नोट और लोकप्रिय निबंध-दोनों का संतुलन साध लेता है: प्रमाण-सम्मत, पर पठनीय; विद्वत्, पर आत्मीय।

संपूर्णता के तीन क़दम : आकार, विन्यास और प्रक्रिया

अब तक के विवरण और विवेचना से यह स्पष्ट हो चुका है कि ज-म-ल और क-म-ल दोनों में "सम्पूर्णता" का भाव सक्रिय है, पर अलग-अलग स्तरों पर। ऊँट के सन्दर्भ में यह उसका आकार और उपयोग है जो प्रमुख रूप से उभरता है; भाषा के स्तर पर यह अंगों के समुचित विन्यास में दिखाई देता है; और कर्म या आचरण के स्तर पर यह किसी कार्य या प्रक्रिया के पूर्ण हो जाने में व्यक्त होता है। इसी बात को अधिक व्यावहारिकता और निकटता से समझने के लिए, यदि हम इन तीनों स्तरों को-जो ऊपर अलग-अलग रूप में सामने आए हैं-एक साथ रखें, तो ज-म-ल और क-म-ल के बीच निहित रिश्तेदारी की झलक सहज रूप में स्पष्ट होने लगती है।

तीन बिम्ब साथ रखिए-

(क) ऊँट-जमल-जो अपने पर्यावरण के अनुरूप आकार और उपयोग, दोनों के स्तर पर संतुलित और उपयुक्त है; इसलिए वह अपने संदर्भ में एक पूर्ण प्राणी माना जाता है। उसका कद, काठी, सहन-शक्ति और शारीरिक बनावट मरुस्थलीय जीवन की आवश्यकताओं के साथ इस तरह मेल खाती है कि उसमें किसी अतिरिक्त या अभाव की अनुभूति नहीं रहती।

(ख) वाक्यविन्यास-जुम्ला-जो शब्दों के समुचित विन्यास से अर्थ की पूर्णता रचता है; इसलिए अर्थवान होता है। शब्दों का चयन, उनका क्रम और आपसी सम्बन्ध-इन सबका संतुलन ही वाक्य को पूरा बनाता है। विन्यास में थोड़ी-सी गड़बड़ी भी अर्थ को अधूरा या अस्पष्ट कर देती है।

(ग) पूर्ण हुई प्रक्रिया-मुकम्मल-जो अपेक्षित शर्तों, चरणों और अनुक्रम का निर्वाह कर चुकी है; इसलिए पूर्ण मानी जाती है। यहाँ मुकम्मल किसी भौतिक वस्तु का नाम नहीं, बल्कि उस स्थिति का बोध है जहाँ करने को कुछ शेष नहीं रह जाता और कार्य अपने उद्देश्य तक पहुँच चुका होता है।

इन तीनों बिम्बों में "सम्पूर्णता" का अर्थबोध एक ही धुरी पर टिकता हुआ दिखाई देता है। पहले में यह आकार और उपयोग के संतुलन में है, दूसरे में अंगों के विन्यास में, और तीसरे में प्रक्रिया के समापन में। यही "सम्पूर्णता" ज-म-ल में सौन्दर्य का रूप ग्रहण करती है और क-म-ल में सिद्धि का। इस दृष्टान्त के माध्यम से लेख की मूल धारणा न केवल स्पष्ट होती है, बल्कि पूरे भाषाशास्त्रीय विवेचन को एक ठोस और समझने योग्य आधार भी देती है।

दार्शनिक निष्कर्ष : संपूर्ण ही सुंदर है-सुंदर ही संपूर्ण है -

इस विमर्श का सार यही है कि ज-म-ल और क-म-ल का सम्बन्ध विरोध का नहीं, विवेकपूर्ण संयोग का है। ज-म-ल हमें सिखाता है कि सुंदरता कोई सतही चमक नहीं, बल्कि अनुपात और औचित्य में बसने वाली संगति है; क-म-ल हमें बताता है कि पूर्णता कोई यांत्रिक "पूरा-करना" नहीं, बल्कि उस संगति का सिद्धावस्था में परिणत होना है।दोनों मिलकर यह कहते हैं कि भाषा, कला, विचार और आचार-सबमें "सम्पूर्णता" ही अंतिम सौन्दर्य है; और "सौन्दर्य" वह दीप है जो सम्पूर्णता की राह रोशन करता है। भारतीय-सामी दृष्टियों का यह सेतु-रूप और भाव का-केवल व्युत्पत्ति की कहानी नहीं, जीवन-दर्शन की भी सच्चाई है: जो उपयुक्त है वही सुंदर है; जो सुंदर है वही अपने प्रयोजन में पूर्ण है।

अपनी बात- यह आलेख जमाल और कमाल शब्दों के बीच किसी एक साझा व्युत्पत्तिगत मूल (धातु अथवा क्रियापद) की घोषणा नहीं करता। उपलब्ध शब्दकोशीय साक्ष्यों के आलोक में यह अरबी त्रिवर्णी धातुओं ज-म-ल और क-म-ल के बीच अर्थ और ध्वनि के स्तर पर उभरती निकटता को एक विचारणीय तथ्य के रूप में प्रस्तुत करता है। यह विचार विभिन्न कोशों में इन शब्दों के लिए दर्ज अर्थ-छायाओं,, अर्थछायाओं तथा ध्वनि-परिवर्तन के संरचनात्मक ढाँचों (patterns) को साथ रखकर देखने से उत्पन्न हुआ है।

संदर्भ-संकेत

- क्लासिकल अरबी शब्दकोशों (विशेषतः Edward William Lane, Arabic–English Lexicon; Hans Wehr, Dictionary of Modern Written Arabic) की प्रविष्टियाँ ज-म-ल (जमाल/जमील/जुम्ला/जमल) और क-म-ल (कमाल/मुकम्मल/इकमाल) को स्वतंत्र धातुओं और पृथक शब्द-परिवारों के रूप में प्रस्तुत करती हैं।
- सामी–यूनानी–लैटिन ध्वन्यात्मक संचरण का स्थापित उदाहरण हिब्रू gamal ➢ यूनानी ➢ kamelos लैटिन camelus ➢ अंग्रेज़ी camel के रूप में मिलता है (देखें: Brown–Driver–Briggs Hebrew Lexicon; Online Etymology Dictionary), जबकि अरबी jamal उसी अर्थ-ऊँट-के साथ सामी स्तर पर विद्यमान है; इससे g/j/k ध्वनियों की ऐतिहासिक निकटता का संकेत मिलता है।
- अर्थ-सम्बन्ध (semantic overlap) के स्तर पर, ज-म-ल के अंतर्गत "समुच्चय/अनुपात/सौन्दर्य" और क-म-ल के अंतर्गत "पूर्ण/सिद्ध/परिपूरित" जैसे अर्थ-क्षेत्र दर्ज हैं (Lane; Wehr), जिनका साझा केंद्रीय भाव "सम्पूर्णता" के रूप में उभरता है।
- उर्दू–फ़ारसी प्रयोग-जगत में "जमाल-ओ-कमाल", "हुस्न-ओ-कमाल", "जुम्ला/मुकम्मल" जैसी युग्मावलियाँ व्यापक रूप से प्रचलित हैं (Platts, Dictionary of Urdu, Classical Hindi and English), जो भाषा-प्रयोग के स्तर पर इन दोनों धाराओं की सहगति का जीवंत साक्ष्य प्रस्तुत करती हैं।

अजीत बडनेरकर

शब्द, नाद एवं भाषा की उत्पत्ति

सिद्धार्थ तिवारी

सृष्टि-तत्त्व एवं शब्दब्रह्म की अवधारणा

भारतीय दार्शनिक परम्परा में शब्द, नाद एवं भाषा की उत्पत्ति का प्रश्न किसी सामान्य भाषावैज्ञानिक जिज्ञासा का विषय नहीं है, अपितु यह सीधे तौर पर सृष्टितत्त्व, चेतनाप्रकाश एवं ब्रह्मानुभूति से गहनरूपेण सम्बद्ध है। पाश्चात्य जगत जहाँ भाषा को मनुष्य के क्रमिक विकास और सामाजिक अनुबन्ध का परिणाम मानता है, वहीं भारतीय मनीषा इसे अस्तित्व के मूल आधार के रूप में देखती है। प्राचीन वैदिक साहित्य से लेकर उत्तरकालीन व्याकरणिक और दार्शनिक ग्रन्थों तक, नाद, शब्द और भाषा यह त्रयी क्रमिक अभिव्यक्तियों के रूप में विकसित होती दृष्टिगोचर होती है। इस क्रम में नाद ब्रह्म की प्रथम कम्पनात्मक ध्वनि है, शब्द उसका अर्थयुक्त बोधात्मक स्वरूप है, और भाषा सामाजिक सम्प्रेषण की सुव्यवस्थित संरचना है।

उपनिषद् और शब्दब्रह्म का आधार

मैत्रायणी उपनिषद् इस दार्शनिक चिन्तन की मूलभूत आधारशिला प्रस्तुत करता है। इसमें स्पष्ट निर्देश है -

“द्वे ब्रह्मणि वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति।।”

अर्थात्, मुमुक्षु को दो ब्रह्मों को जानना चाहिए एक “शब्दब्रह्म” और दूसरा उससे परे “परब्रह्म”। यहाँ शब्दब्रह्म और परब्रह्म का भेद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। शब्दब्रह्म (वेद, ओंकार, और नाद का तत्त्व) वह साधन या द्वार है, जिसमें निपुण होकर ही साधक उस निर्गुण, निराकार परब्रह्म को प्राप्त कर सकता है। जहाँ अशब्दब्रह्म निर्गुण परमसत्ता का प्रतीक है, वहीं शब्दब्रह्म सगुण सृष्टि प्रक्रिया का मूल है। यह श्लोक सिद्ध करता है कि शब्द और नाद की साधना मोक्ष का सीधा मार्ग है।

वैदिक वाक् और सृजनात्मक शक्ति

ऋग्वेद के “वाक्-सूक्त” (१०.१२५) में भाषा की उत्पत्ति को किसी मानवीय प्रयास का फल नहीं, अपितु एक दैवीय शक्ति के रूप में प्रतिपादित किया गया है। इसमें वाक् (वाणी) स्वयं घोषणा करती है -

“अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा।।”

यहाँ वाक् को सर्वव्यापी सृष्टिशक्ति के रूप में स्थापित किया गया है, जो रुद्रों, वसुओं और आदित्यों को धारण करती है। यह सूक्त भाषा को ब्रह्मा की सृजनात्मक शक्ति से जोड़ता है, यह संकेत देते हुए कि सृष्टि रचना और भाषा रचना समानान्तर प्रक्रियाएं हैं।

छान्दोग्योपनिषद् में इस विचार को और अधिक सूक्ष्मता प्रदान की गई है। वहाँ ॐ को ब्रह्म की ध्वन्यात्मक अभिव्यक्ति माना गय है - “ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत” यह उद्घोष नाद की ब्रह्मीयता को स्थापित करता है। यहाँ अक्षर केवल वर्ण नहीं, बल्कि अविनाशी है। आचार्य भर्तृहरि ने अपने दार्शनिक ग्रन्थ “वाक्यपदीयम्” में इसी परम्परा को शिखर पर पहुँचाया। उनका मंगलाचरण भारतीय भाषादर्शन का प्राण है–

“अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।।”

अर्थात्, शब्दतत्त्व अनादि और अनन्त ब्रह्म है। यह अक्षरतत्त्व ही वह उपादान कारण है जिससे यह सम्पूर्ण जगत विवर्तित होता है। यह श्लोक शब्द को “स्फोटरूप अखण्ड सत्ता” के रूप में स्थापित कर भाषा की उत्पत्ति को व्यक्तिगत व्युत्पत्ति या ऐतिहासिक घटनाओं से ऊपर उठाकर “नित्यतत्त्व” से सन्नादित करता है।

पूर्वमीमांसा शब्द के नित्यत्व पर बल देती है- “औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्च” क्योंकि वेद अपौरुषेय हैं एवं शब्दार्थ सम्बन्ध अनादि (औत्पत्तिक) है। न्याय-वैशेषिक में शब्द आकाशीय गुण है, जो प्रमाणस्वरूप वाक्य निर्माण करता है। पाणिनीय व्याकरण ध्वनिविज्ञान से वर्णव्यवस्था स्थापित कर नाद से शब्द तक का सूत्र बाँधता है, जबकि आचार्य भर्तृहरि स्फोटवाद द्वारा भाषा को अविभाज्य चेतनाप्रकाश मानते हैं। तान्त्रिक एवं नादयोग परम्परा वाक् के चार स्तरों परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी के माध्यम से नाद के सूक्ष्म से स्थूल अवतरण को चित्रित करती है।

नाद की अवधारणा: आदि-कम्पन से चैतन्य तक

नाद भारतीय दार्शनिक एवं आध्यात्मिक परम्परा में ध्वनि का प्राथमिक एवं मूल स्वरूप है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से यह ‘नद्’ धातु से निष्पन्न होता है, जो अव्यक्त ध्वनि, गूँज या कम्पनात्मक प्रवाह को निरूपित करता है।

शुद्ध और शान्त ध्वनि - वैदिक साहित्य से लेकर तान्त्रिक ग्रन्थों तक नाद को ब्रह्म की प्रथम अभिव्यक्ति माना गया है। सृष्टि के प्राक्-स्तर पर, जब दृश्य जगत का अस्तित्व नहीं था, तब केवल स्पन्दन शेष था। मैत्रायणी उपनिषद् में नाद के इस स्वरूप का अत्यन्त सूक्ष्म वर्णन मिलता है जहाँ इसे इन्द्रियों से परे की ध्वनि और आत्म-स्वरूप बताया गया है। उपनिषद्कार कहते हैं - “यो ह खलु वाचोपरिस्थः श्रूयते स एव वा एष शुद्धः पूतः शून्यः शान्तो प्राणोऽनीशत्माऽनन्तोऽक्षय्यः..” अर्थात्, जो वाणी से ऊपर स्थित होकर सुनाई देता है (अनाहत रूप में), वही यह शुद्ध, पवित्र, शून्य, शान्त, प्राणस्वरूप, ईश्वरातीत, अनन्त और अक्षय तत्त्व है। यह उद्धरण स्पष्ट करता है कि नाद कोई भौतिक कोलाहल नहीं, अपितु वह “शान्त” और “शून्य” है जो चेतना के उच्चतम शिखर (वाचोपरिस्थः) पर अनुभूत होता है।

नाद की अवधारणा को योग और संगीतशास्त्र में दो प्रमुख श्रेणियों में विभक्त किया गया है-

1. **आहत नाद -** यह वह ध्वनि है जो आघात से उत्पन्न होती है। दो वस्तुओं का टकराना, घर्षण, वायु का अवरोध ये सब आहत नाद उत्पन्न करते हैं। हमारी व्यावहारिक भाषा, संगीत के स्वर (श्रुति) और भौतिक ध्वनियाँ इसी श्रेणी में आती हैं।
2. **अनाहत नाद -** यह अनाहत है। यह सहज आन्तरिक कम्पन है, जो बिना किसी कारण या आघात के निरन्तर गुंजायमान है। नादयोग साधना और कुण्डलिनी जागरण के माध्यम से योगी इसी अनाहत नाद का अनुभव करते हैं। नादयोग ग्रन्थों में इसे ही ओंकार, नाद, बिन्दु एवं कला की चतुर्भुजा के रूप में वर्गीकृत किया गया है। यह परमशिव की ओर क्रमिक आरोहण का मार्ग है।

आचार्य भर्तृहरि के वाक्यपदीयम् में नाद शब्दतत्त्व का पूर्वाधार है जहाँ शुद्ध नाद स्फोट की अभिव्यक्ति का माध्यम बनता है। तान्त्रिक परम्परा नाद को बिन्दु के साथ संयोजित कर शिव-शक्ति संयोग का प्रतीक बनाती है। यह समस्त सृष्टि का मूल ध्वनिबीज है। तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से, नाद आकाश महाभूत की प्रथम अभिव्यक्ति है। पञ्चमहाभूतों के अवतरण क्रम

में आकाश का गुण शब्द (ध्वनि) है, और यही नाद सृष्टि विस्तार का उद्गम बिन्दु है। आधुनिक सन्दर्भ में नाद को ब्रह्माण्डीय कम्पन से तुलित किया जा सकता है, किन्तु मूलतः यह चैतन्य का सूक्ष्म रूप है। नाद से शब्द का संक्रमण वाक् के स्तरों में दृष्टिगोचर होता है; परा वाक् में नाद शुद्ध अव्यक्त है, जो क्रमशः पश्यन्ती में अर्थ-संकेतक बनता है। इस प्रकार नाद भाषा उत्पत्ति का मूल स्रोत है, जो ध्वनि से अर्थ तक की यात्रा का प्रस्थान बिन्दु है।

शब्द का दार्शनिक स्वरूप: नित्यत्व और स्फोट

शब्द भारतीय दर्शन में नाद के पश्चात् अर्थयुक्त ध्वन्यात्मक सत्ता है, जो केवल भौतिक ध्वनि से परे ब्रह्मतत्त्व की अभिव्यक्ति के रूप में प्रतिष्ठित है। शब्द की प्रकृति को लेकर भारतीय दर्शन में तीन प्रमुख मत प्रचलित हैं–

1. **न्याय-वैशेषिक दृष्टि (अनित्यत्ववाद) -** न्याय और वैशेषिक दर्शन में शब्द को आकाश द्रव्य का विशेष गुण माना गया है।

“शब्दादिभ्यो यः प्रतीयते, स आकाशः।
शब्दो लिङ्गं आकाशस्य..”

शब्द ध्वन्यात्मक प्रमाण के रूप में कार्य करता है। यह अनित्य है और उच्चारण के बाद नष्ट हो जाता है, किन्तु वाक्य निर्माण द्वारा यह ज्ञानोत्पादक है। नैयायिकों के अनुसार, ईश्वर की इच्छा से ही शब्द में अर्थ बोध कराने की शक्ति आती है।

2. **पूर्वमीमांसा दृष्टि (नित्यत्ववाद) -** पूर्वमीमांसा शब्द के नित्यत्व पर अडिग है। वेदों की अपौरुषेयता सिद्ध करने के लिए महर्षि जैमिनि शब्द को नित्य मानते हैं। उनके अनुसार, शब्द (वर्ण) विभु और नित्य हैं। जब हम बोलते हैं, तो हम शब्द को उत्पन्न नहीं करते, बल्कि केवल “अभिव्यक्त” करते हैं। शब्द का अर्थ से सम्बन्ध “औत्पत्तिक” (स्वाभाविक) है, मानव-निर्मित नहीं।

“औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः…” (मीमांसा सूत्र १.१.५) यह सूत्र उद्घोषित करता है कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध अनादि है। यदि शब्द अनित्य होता, तो वैदिक आदेशों की शाश्वतता खण्डित हो जाती।

3. **व्याकरण और स्फोटवाद (अखण्ड सत्ता) -** आचार्य भर्तृहरि का वाक्यपदीयम् शब्ददर्शन का चरमोत्कर्ष है। वे “स्फोट” के सिद्धान्त को स्थापित करते हैं। स्फोट वह आन्तरिक शब्दतत्त्व है जो वर्णो के क्रम से रहित और अखण्ड है। जब हम “क”, “म”, “ल” बोलते हैं, तो ये ध्वनियाँ (नाद) अलग-अलग और क्षणिक हैं, किन्तु इनके उच्चारण से मन में जो एक अखण्ड अर्थ (कमल) प्रकाशित होता है, वही स्फोट है। “अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्…” (वाक्यपदीयम् १.१) यहाँ शब्द स्फोटरूप अखण्ड सत्ता है, जो ध्वनि (अवयवी) से भिन्न वाक्यस्फोट एवं पदस्फोट के माध्यम से अर्थ प्रकट करता है।

व्याकरण परम्परा में, यद्यपि शब्द ध्वनि-समूह से अभिव्यक्त होता है, किन्तु पतञ्जलि के महाभाष्य में इसे नित्य वर्ण-श्रेणी का संगठन माना गया है। शब्दब्रह्म की यह संकल्पना भाषा को चेतना का प्रकाश मानती है, जो नाद के शुद्ध कम्पन को अर्थसंकेतक बनाकर सृष्टि-संरचना का आधारभूत तत्त्व सिद्ध करती है।

वाक् के चार स्तर: परा से वैखरी तक

नाद से शब्द और शब्द से स्थूल भाषा तक की यात्रा को भारतीय तान्त्रिक एवं व्याकरणिक परम्परा ने वाक् के चार स्तरों के माध्यम से समझाया है। यह वर्गीकरण भाषा की उत्पत्ति के मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक आयामों को उद्घाटित करता है।

1. **परा वाक् -** यह वाक् का सर्वोच्च स्तर है। यह मूलाधार चक्र में स्थित होती है। यहाँ शब्द और अर्थ, शिव और शक्ति की भाँति अभिन्न होते हैं।

“स्वरूपज्योतिरेवान्तः परा वागनपायिनी” आचार्य भर्तृहरि वृत्ति में स्पष्ट करते हैं कि परा वाक् वह आन्तरिक प्रकाश (स्वरूप ज्योति) है जो कभी नष्ट नहीं होती। तन्त्रालोक के अनुसार, यह सर्वव्यापी, गुणरहित और ध्वनिरहित अवस्था है। यह नादब्रह्म की वह परम अवस्था है जहाँ बोलने की इच्छा (विवक्षा) अभी अंकुरित भी नहीं हुई है। यह शुद्ध चेतना का स्पन्दन है।

2. **पश्यन्ती वाक् -** नाद जब मूलाधार से ऊपर उठकर नाभि तक पहुँचता है, तो वह

“पश्यन्ती” कहलाता है। आचार्य भर्तृहरि के अनुसार - “अविभागा तु पश्यन्ती सर्वतः संहृतक्रमा” यहाँ पश्यन्ती को “अविभागा” (जिसमें वर्णो का विभाग न हो) और “संहृतक्रमा” (जिसमें काल और क्रम सिमट गए हों) कहा गया है। यहाँ वाक् “देखने” वाली होती है। वक्ता को सम्पूर्ण अर्थ का एक साथ बोध होता है, जैसे अँधेरे में बिजली चमकने पर सब कुछ एक साथ दिख जाता है। यहाँ वर्णो का क्रम नहीं होता, केवल अर्थ की समष्टि होती है। यह “स्फोट” की अवस्था है। योगी इसी स्तर पर नाद का साक्षात्कार करते हैं।

3. **मध्यमा वाक् -** हृदय देश (अनाहत चक्र) में स्थित वाक् ‘मध्यमा’ कहलाती है। केवलं बुद्ध्युपादानक्रमरूपानुपातिनी। प्राणवृत्तिं अतिक्रम्य मध्यमा वाक्प्रवर्तते॥ आचार्य भर्तृहरि के अनुसार, मध्यमा वाक् वह है जिसका आधार केवल बुद्धि है (क्रमवती बुद्धिमात्रोपादाना)। यह प्राणवृत्ति से परे केवल मन के भीतर स्थित होती है। यह विचार और मानसिक उच्चारण का स्तर है। यहाँ शब्द और अर्थ अलग-अलग होने लगते हैं। बुद्धि वर्णों का क्रम निर्धारित करती है, किन्तु अभी ध्वनि बाहर नहीं निकली है। यह हमारे मन के भीतर चलने वाला संवाद है। भाषा निर्माण का वास्तविक संक्रमण बिन्दु यही है।

4. **वैखरी वाक् -** जब वायु कण्ठ और मुखावयवों से टकराकर बाहर निकलती है, तो वह “वैखरी” कहलाती है। स्थानेषु विवृते वायौ कृतवर्णपरिग्रहा। वैखरी वाक्प्रयोक्तॄणां प्राणवृत्तिनिबन्धना॥ यह जिह्वा द्वारा उच्चारित स्थूल ध्वनि है, जिसे दूसरे सुन सकते हैं। यह भाषा का वह रूप है जिसका प्रयोग हम लोक-व्यवहार और सामाजिक सम्प्रेषण में करते हैं। अभिनवगुप्त जैसे आचार्यों ने इस प्रक्रिया को शिव (चेतना) के शक्ति (वैखरी) रूप में अवतरण की लीला माना है। यह सिद्धान्त स्पष्ट करता है कि भाषा केवल अधरों की हलचल नहीं, बल्कि चेतना की गहराइयों से उठने वाला ज्वार है।

भाषा उत्पत्ति के सिद्धान्त : दैवीय और संरचनात्मक

भारतीय चिन्तन में भाषा उत्पत्ति के सिद्धान्तों में विविधता है, जो दैवीय मूल से लेकर तार्किक संरचना तक विस्तृत हैं।

दैवीय उत्पत्ति और नित्यत्व - वैदिक ऋषियों ने भाषा को “देवता” माना। ऋग्वेद (१०.१२५) में वाक् देवी स्वयं को “ब्रह्माणा” (ब्रह्म का रूप) कहती हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रजापति ब्रह्मा को वर्णमाला का सृजक माना गया है। मीमांसा दर्शन के अनुसार, भाषा (वेद की भाषा) नित्य है। लौकिक भाषा उसी नित्य वेदभाषा का अपभ्रंश या अनुकरण मात्र है।

शबरभाष्य में स्पष्ट किया गया है कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध अनादि है, किन्तु सामाजिक व्यवहार “संविद्” पर आधारित है, जिसे वृद्धव्यवहार से सीखा जाता है।

स्फोटवाद और पाणिनीय व्यवस्था - वैयाकरणों का मत सबसे वैज्ञानिक और दार्शनिक है। पाणिनीय व्याकरण ध्वनिविज्ञान के माध्यम से वर्ण-व्यवस्था स्थापित कर नाद से भाषा तक का सेतु बाँधता है। महर्षि पाणिनि ने माहेश्वर सूत्रों के माध्यम से नाद (डमरू ध्वनि) को वर्णों में संहिताबद्ध किया।

नादयोग और संगीत - संगीतशास्त्र और नादयोग के अनुसार, भाषा स्वरों का विकास है। क्रम इस प्रकार है - नाद - श्रुति - स्वर - वर्ण - शब्द - वाक्य। नाट्यशास्त्र में भरतमुनि ने भी वाक् के अभिनय में स्वर और काकु के महत्त्व को स्वीकार किया है।

नाद, शब्द और भाषा में परस्पर सम्बन्ध

नाद, शब्द और भाषा के मध्य अन्तःसम्बन्ध को समझना भारतीय दर्शन की एक विशिष्ट उपलब्धि है। यह सम्बन्ध रेखीय न होकर चक्रीय और अन्योन्याश्रित है, जहाँ स्थूल से सूक्ष्म और सूक्ष्म से स्थूल की यात्रा निरन्तर चलती रहती है।

1. **नाद और शब्द का तादात्म्य: (नाद = कम्पन, शब्द = अर्थवाची) -** नाद और शब्द का सम्बन्ध “उपादान” और “उपादेय” जैसा प्रतीत होता है, किन्तु यह उससे कहीं अधिक गहरा है। नाद सृष्टि का भौतिक और ऊर्जात्मक आधार है वह कम्पन है। जब यह कम्पन चेतना के सम्पर्क में आता है और एक निश्चित अर्थ को धारण करने की क्षमता प्राप्त कर लेता है, तब वह “शब्द” बन जाता है। अतः समीकरण है - नाद + अर्थ-चेतना = शब्द। बिना नाद के शब्द का कोई अस्तित्व नहीं (क्योंकि वह माध्यम है), और बिना शब्द (अर्थ) के नाद केवल एक भौतिक शोर या निरर्थक ध्वनि है। आचार्य भर्तृहरि के अनुसार, शब्दतत्त्व में नाद अन्तर्निहित है। जैसे स्वर्ण के बिना आभूषण नहीं बन सकता, वैसे ही कम्पन के बिना अर्थ की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं।
2. **ध्वनि और स्फोट का सम्बन्ध: (ध्वनि अवयवी, स्फोट अखण्ड) -** यह सम्बन्ध भाषाविज्ञान का सबसे सूक्ष्म भाग है। हम जो बोलते हैं, वह “ध्वनि” है। ध्वनियाँ “अवयवी” होती हैं, जो क्रम से बोली जाती हैं। जैसे “क”, “म”, “ल” ये ध्वनियाँ अलग-अलग क्षणों में उत्पन्न और नष्ट होती हैं। प्रश्न यह है कि अर्थ का बोध कब होता है? क्या “क” बोलने पर? नहीं। क्या “ल” बोलने पर? तब तक “क” नष्ट हो चुका होता है। यहाँ “स्फोट” का सिद्धान्त आता है। स्फोट “अखण्ड” है। ध्वनियाँ उस अखण्ड स्फोट को अभिव्यक्त करती हैं। जैसे ही अन्तिम वर्ण “ल” का उच्चारण होता है, पूर्व के वर्णों के संस्कारों के साथ मिलकर मन में “कमल” का एक पूरा चित्र दृश्य हो जाता है - यही स्फोट है। अतः सम्बन्ध यह है, ध्वनि व्यंजक है और स्फोट व्यंग्य है। ध्वनि अनित्य और क्रमिक है, जबकि शब्द (स्फोट रूप में) नित्य और अक्रमिक है।
3. **शब्द से भाषा तक: (शब्द - वाक्य - भाषा, पाणिनीय नियम आधार) -** स्फोट केवल पदों तक सीमित नहीं है, यह वाक्य तक विस्तृत है (वाक्यस्फोट)। शब्द जब परस्पर आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि के साथ जुड़ते हैं, तो वाक्य बनता है। वाक्यों का सुव्यवस्थित समूह ही भाषा है। इस निर्माण प्रक्रिया का आधार महर्षि पाणिनि का व्याकरण है। पाणिनि ने नाद और शब्द की इस अनियमित राशि को नियम में बाँधा। उन्होंने दिखाया कि कैसे मूल धातुओं और प्रत्ययों के योग से शब्द बनते हैं। उनका व्याकरण वह ढाँचा प्रदान करता है जो “नाद” को “भाषा” में बदलता है। पाणिनीय नियम भाषा को केवल ध्वनियों का समूह होने से बचाते हैं और उसे एक तार्किक प्रणाली बनाते हैं।
4. **चेतना का प्रमाण: (सरस्वती पूजा चेतना प्रमाण) -** नाद, शब्द और भाषा का यह पूरा तन्त्र अन्ततः “चेतना” पर जाकर विश्राम करता है। भारतीय संस्कृति में सरस्वती पूजा केवल एक कर्मकाण्ड नहीं है, अपितु यह इस दार्शनिक सत्य का स्वीकार है कि भाषा “जड़” पदार्थ नहीं है। यदि भाषा केवल भौतिक ध्वनि होती, तो हम यन्त्रवत् होते। सरस्वती, जो “वाक् देवी” हैं, उस चैतन्य प्रवाह का प्रतीक हैं जो नाद (वीणा) और ज्ञान (पुस्तक) को धारण करती हैं। सरस्वती पूजा यह प्रमाण है कि शब्द ब्रह्म है। जब हम बोलते हैं, तो हम केवल हवा को कम्पित नहीं कर रहे होते, बल्कि अपनी चेतना को दूसरे की चेतना में स्थानान्तरित कर रहे होते हैं। यह सम्प्रेषण क्षमता ही चेतना का सबसे बड़ा प्रमाण है। अतः नाद से उठी तरंग, शब्द में अर्थ बनकर, पाणिनीय नियमों से सुसज्जित होकर, भाषा के रूप में जब प्रवाहित होती है, तो वह साक्षात् सरस्वती (प्रवाहित होने वाली चेतना) का रूप ले लेती है।इस प्रकार, नाद, शब्द और भाषा की उत्पत्ति का भारतीय आख्यान एक विलक्षण दार्शनिक यात्रा है। यह यात्रा मैत्रायणी उपनिषद् के “शब्दब्रह्म” से आरम्भ होकर, पाणिनीय व्याकरण की वैज्ञानिकता से गुजरते हुए, आचार्य भर्तृहरि के “स्फोटवाद” और तान्त्रिक ‘वाक्’ के स्तरों में पूर्णता प्राप्त करती है। निष्कर्षतः, नाद सृष्टि का उपादान है, शब्द सृष्टि का निमित्त है, और भाषा वह व्यावहारिक सेतु है जो व्यष्टि चेतना को समष्टि चेतना से जोड़ता है। मीमांसा का नित्यत्व, न्याय का प्रमाणशास्त्र और व्याकरण का स्फोट ये सभी सिद्धान्त अन्ततः यही सिद्ध करते हैं कि भाषा मनुष्य का आविष्कार नहीं, अपितु ब्रह्म का ही एक विवर्त है। नाद का कम्पन ही शब्द का अर्थ बनता है, और शब्द ही भाषा की देह धारण करता है यही इन तीनों का अविच्छिन्न सम्बन्ध है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

- अभिनवगुप्त, तन्त्रालोक, (व्याख्या: आर.सी. द्विवेदी), मोतीलाल बनारसीदास।
- ऋग्वेद संहिता (सायण भाष्य), चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।
- कणाद, वैशेषिक सूत्र, (प्रशस्तपाद भाष्य सहित), चौखम्बा संस्कृत सीरीज।
- छान्दोग्योपनिषद्, (शांकरभाष्य), गीता प्रेस, गोरखपुर।
- जैमिनि, मीमांसा सूत्र (शबरभाष्य सहित), आनंदाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, पुणे।
- पतञ्जलि, व्याकरण महाभाष्य, (अनुवाद: चारुदेव शास्त्री), मोतीलाल बनारसीदास।
- पाणिनि, अष्टाध्यायी, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी।
- भर्तृहरि, वाक्यपदीय (ब्रह्मकाण्ड), (संपा. एवं अनुवाद: के.ए. सुब्रमण्यम अय्यर), मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।
- भरतमुनि, नाट्यशास्त्र, (अध्याय २८-२९), चौखम्बा प्रकाशन।
- मैत्रायणी उपनिषद्, (भाष्य एवं अनुवाद), गीता प्रेस, गोरखपुर।

सिद्धार्थ तिवारी
संस्कृत विभाग, कला संकायकाशी हिन्दू विश्वविद्यालय
Email – tiwarisiddharth@bhu.ac.in

लोक में प्रमुख मान्यताएँ एवं परम्परा

डॉ. भुवनेश्वर दूबे

लोक, जीवन का आधार होता है। मनुष्य-पशु-पक्षी एवं सम्पूर्ण जड़-चेतन पदार्थ लोक से ही सम्बन्धित होते हैं और वही उनके जीवन जीने के मूल केंद्र बिन्दु होते हैं। यदि लोक से तादात्म्य विग्रह होता है, तो जीवन, परिवर्तित लोक को धारण कर लेता है और उसे किसी अन्य संज्ञा से जाना जाता है। लोक संतुलित रूप से चलायमान होने के लिए बहुत से तत्त्व और पदार्थों को अपने साथ लेकर चलता है और उसमें उसकी दृष्टि और मान्यताएँ तथा परंपरा उदीयमान होती दिखाई पड़ती हैं। मानव विशिष्ट चित्तवृत्ति का प्राणी होने के नाते लोक के ज्यादातर उपक्रमों से परिचित होता है और स्वयं को संतुलित करने के लिए, जीवन से सम्बन्धित उन मान्यताओं और परम्पराओं को स्वीकार करता है, जिससे उसे जीवन जीने की प्रत्याशा प्राप्त होती है। जिजीविषा मनुष्य की प्रवृत्ति होती है। संसार का शायद ही कोई ऐसा मनुष्य हो, जो अच्छी तरह से जीना और रहना न चाहता हो। विवशता में कोई भले ही जीवन के प्रति गलत निर्णय ले ले लेकिन अनुकूल स्थिति में सभी जीवन से प्यार करते हैं और उसके प्रेमी होते हैं, यह बात अलग है कि जीवन में भी विभिन्नता है और यही विभिन्नता जीवन को नवीन परिवर्तित परिवेश और ताज़गी प्रदान करता है, जिससे जीवन सुचारु रूप में निर्वहित होता रहता है।

जीवन - वृत्ति को संचालित करने के लिए लोक में विविध प्रकार की मान्यताओं और परम्पराओं को स्वीकार किया जाता है, जो जीवन को उचित मार्गदर्शन देते हुए उसे मोहक और आकर्षक बनाती हैं। ऐसी मान्यताओं को लोक विश्वास के रूप में भी जाना जाता है। मान्यता और विश्वास दोनों जीवन के लिए उतना ही आवश्यक हैं, जितना जीवन जीने के लिए भोजन और पानी। इसीलिए मनुष्य हमेशा उसे स्वीकार करता है, जो जीवन को मंगलमय बनाने में अपनी भूमिका का निर्वहन करते हैं। लोक में धरती और आकाश से सम्बन्धित वे सभी पदार्थ और अवयव स्वीकार किए जाते हैं, जो लोक में निवास करने वाले प्राणियों के जीवन को प्रभावित करते हैं।

लोक मान्यताएँ एवं विश्वास जीवन को संतुलन प्रदान करने में सहायक होते हैं और इनके माध्यम से मनुष्य की चित्तवृत्ति में संतुष्टि का निवास भी होता है। आकाशीय पिण्ड से संबन्धित बहुत सी लोक मान्यताएँ अभी भी ग्रामीण अंचल में विद्यमान हैं। कुछ प्रमुख मान्यताओं पर विचार विमर्श किया जा सकता है। लोक में सूर्य को देवता के रूप में पूजा जाता है और उनके माध्यम से ही जीवन व्यतीत होता है। वास्तविकता में सूर्य प्रत्यक्ष देवता है। वेदों में सूर्य को सविता कहा गया है। सविता का एक अर्थ प्राणियों की सृष्टि करने वाला होता है। इसे पोषित करने के अर्थ में भी ग्रहण किया जा सकता है। सूर्य अपने प्रकाश के द्वारा प्राणियों को पोषित करते हैं, जिसे प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। सूर्य के प्रकाश से ही समस्त सम्पदा की सृष्टि होती है, ऐसी मान्यता है। उन्हें समस्त सृष्टि का कर्त्ता भी माना जाता है। लोगों में ऐसी मान्यता है कि सूर्य की पूजा करने से पुत्र की उत्पत्ति होती है तथा असाध्य रोग भी इससे नष्ट हो जाते हैं। गर्भवती स्त्रियों के लिए सूर्य ग्रहण देखना अत्यंत निषिद्ध है, क्योंकि इससे गर्भस्थ शिशु को शारीरिक क्षति होने की आशंका बनी रहती है। यह लोकमान्यता भी है और आजकल वैज्ञानिक भी इसे स्वीकार करते हैं। सूर्य मण्डल के चारों ओर यदि गोलाकार मण्डल दिखाई पड़े, तो उसे अशुभ तथा भावी अनिष्ट का सूचक माना जाता है। महाकवि श्रीहर्ष ने भी इस तथ्य की ओर संकेत किया है –

तनोति भानोः परिवेश कैतवात्
तदा विधिः कुण्डलनां विधोरपि।

जो लोग श्वेत कुष्ट (चरक) से पीड़ित होते हैं, वे नित्य प्रति सूर्य की पूजा करने से नीरोग हो जाते हैं, ऐसी मान्यता है। सूर्य ऐश्वर्य और यश प्रदाता भी माने जाते हैं। हस्तरेखा में भी इनका बहुत महत्त्व स्वीकार किया गया है।

चन्द्रमा के संबन्धित भी लोक में कई मान्यताएँ व्याप्त हैं। वेदों में इसे सोम कहा गया है। कृष्ण पक्ष में अमावस्या के दिन क्षय होने के पश्चात् यह पुनः जन्म ग्रहण करता है, इसीलिए इसे द्विज भी कहते हैं। वेदों में सोम (चन्द्रमा) को ब्राह्मणों का राजा कहा गया है –

"सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा"

चन्द्रमा का स्वभाव शीतलता से युक्त स्वीकार किया गया है। ब्राह्मण को भी चन्द्रमा के समान शीतल और अमृत बुद्धि ग्रहण करना चाहिए साथ ही उनके मनस् में सभी कल्याण हेतु शीतलता बनी रहे, इसीलिए चन्द्रमा के समान ब्राह्मण, लोक को सुख प्रदान करने में सक्षम होता है , इसलिए चन्द्रमा को उनका राजा स्वीकार किया जाता है। सोमवती अमावस्या के दिन किसी पवित्र नदी में स्नान करना पुण्यकारक माना जाता है। इस दिन स्त्रियाँ गंगा स्नान करके पीपल के वृक्ष की बड़ी श्रद्धा से पूजा करती हैं। सोमवार को पूर्व दिशा में यात्रा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि यह अमंगलकारक होती है, ऐसी लोक मान्यता है। सोमवार चन्द्रमा के दिवस के रूप में स्वीकार किया जाता है।

विदेशों में चन्द्रमा से संबन्धित अनेक लोक मान्यताएँ हैं। "ब्रिटेन में वातायन (खिड़की) के मध्य से चन्द्रमा का प्रथम दर्शन अशुभ माना जाता है।"

लोक, जीवन का आधार होता है। मनुष्य-पशु-पक्षी एवं सम्पूर्ण जड़-चेतन पदार्थ लोक से ही सम्बन्धित होते हैं और वही उनके जीवन जीने के मूल केंद्र बिन्दु होते हैं। यदि लोक से तादात्म्य विग्रह होता है, तो जीवन, परिवर्तित लोक को धारण कर लेता है और उसे किसी अन्य संज्ञा से जाना जाता है। लोक संतुलित रूप से चलायमान होने के लिए बहुत से तत्त्व और पदार्थों को अपने साथ लेकर चलता है और उसमें उसकी दृष्टि और मान्यताएँ तथा परंपरा उदीयमान होती दिखाई पड़ती हैं। मानव विशिष्ट चित्तवृत्ति का प्राणी होने के नाते लोक के ज्यादातर उपक्रमों से परिचित होता है और स्वयं को संतुलित करने के लिए, जीवन से सम्बन्धित उन मान्यताओं और परम्पराओं को स्वीकार करता है।

दाहिने कन्धे के ऊपर नवीन (द्वितीया का) चन्द्र का दर्शन शुभ तथा बाएँ कन्धे के ऊपर से दर्शन अशुभ माना जाता है। “फ्रांस में कृष्ण पक्ष में वृक्षों का काटना शुभ माना जाता है।”

द्वितीया के चन्द्रमा के अस्ताचल के समय किसी कार्य को संपादित करना मृत्यु का आह्वान माना जाता है। शनि ग्रह बहुत दुष्ट ग्रह के रूप में लोक में विख्यात है। शनि ग्रह का स्वरूप अत्यंत काले रूप में स्वीकार किया जाता है, अतः इन्हें प्रसन्न करने के लिए सभी प्रकार की काली वस्तुओं को ही दान में ब्राह्मणों को दिया जाता है। शनि का संबंध शनिवार से माना जाता है। अतः इस दिन विशेष रूप से शनि देवता की पूजा होती है। शनिवार को लोहा तथा तेल खरीदना अत्यन्त निषिद्ध है। इस दिन पूर्व दिशा की यात्रा करना भी वर्जित है। शनिवार को कोई भी शुभ कार्य नहीं किया जाता, ऐसी मान्यता है। शनिवार के दिन तेल (सरसों,तिल) लगाना शुभकारी माना जाता है।

लोक मान्यता में मंगल ग्रह भी शनि की भाँति दुष्ट ग्रह के रूप में स्वीकार किया जाता है। परंतु जिस व्यक्ति के जन्म कुंडली में मंगल ग्रह अपने घर में स्थित होता है, उसकी उन्नति का यह कारण बनता है। मंगल ग्रह का दिन मंगलवार है, इसीलिए इसकी शांति के लिए लोग व्रत इत्यादि करते रहते हैं। मंगल ग्रह का स्वरूप लाल माना जाता है, इसलिए इनकी प्रसन्नता के लिए लाल रंग से सम्बन्धित कपड़ा-भोजन-पकवान इत्यादि इन्हें अर्पित करने की परंपरा है। इस दिन कुछ धार्मिक लोग नमक नहीं खाते। यह मान्यता है कि रविवार और मंगलवार को अलोना भोजन करना आरोग्यवर्द्धक होता है।

मंगलवार को उत्तर दिशा की यात्रा करना निषिद्ध है। इस नियम का उल्लंघन करने वाले व्यक्ति की अनिष्ट की आशंका बनी रहती है। रवि और मंगल को वधू की विदाई नहीं की जाती। मंगल को नवीन वस्त्रों को धारण करना अमंगलकारी माना जाता है परंतु किसी कार्य को प्रारम्भ करना अथवा इस दिन समाप्ति शुभ मानी जाती है, ऐसी लोक मान्यता है।

बुध ग्रह का वार, बुधवार है। इसे बुद्धि और समृद्धि का प्रतीक माना जाता है। बुधवार के दिन नवीन वस्त्र धारण करना शुभ माना जाता है। कहावत है कि –

कपड़ा पहिने तीन वार
बुध-वृहस्पति शुक्रवार।

बुधवार के दिन दाढ़ी-बाल बनवाना भी शुभकारी माना जाता है। इस दिन किसी नवीन कार्य का प्रारम्भ भी लोग करते हैं। हस्तज्ञान में बुद्ध पर्वत्त व्यापार और समृद्धि का प्रतीक होता है। जिस हाथ का बुध पर्वत उच्च स्थानी होता है, वह व्यक्ति व्यापारिक मस्तिष्क में सफल हो सकता है, ऐसी मान्यता है। बुध पर्वत की रेखाएँ भी यदि समृद्ध और समर्थ हैं , तो ऐसा व्यक्ति जीवन में बहुत कुछ उपार्जन कर सकता है, ऐसी मान्यता है।

धूमकेतु को लोक भाषा में पुच्छल तारा भी कहा जाता है। आकाश में इस तारा का दिखाई पड़ना अत्यंत्त अशुभ माना जाता है। इससे देश में महान् विपत्ति पड़ने तथा अनिष्ट होने की आशंका की जाती है। यह तारा अनेक वर्षों में कभी-कभी ही आकाश में दिखाई पड़ता है। परंतु जब कभी भी दृष्टिगोचर होता है, तब भयंकर उत्पात अवश्य होता है, ऐसी मान्यता है।

उल्काओं का पतन और धूमकेतु के उदय को अशुभ सूचक की मान्यता प्राप्त है। संस्कृत साहित्य में इसके अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं। अथर्ववेद तथा षड्विंश ब्राह्मण में उल्का तथा धूमकेतु मृत्यु की सूचना देने वाले कहे गए हैं।

विदेशों में भी इनकी यही मान्यता है। “ब्रिटेन में आकाश में देदीप्यमान धूमकेतु का उदय विविध भावी आपत्तियों का सूचक होने के कारण अशुभ माना गया है।”

“बेबीलोन में धूमकेतु का दिखाई पड़ना राजा की मृत्यु का सूचक तथा अराजकता का द्योतक है।”

आकाश में स्थित छोटे-छोटे पिण्ड, जो टूट-टूटकर जमीन पर गिरते रहते हैं, उन्हें उल्का कहा जाता है। इसके संबंध में भी अनेक प्रकार की मान्यताएँ व्याप्त हैं। “भारतवर्ष में उल्कापात भूकम्प, दुर्भिक्ष, महामारी,समुद्री तूफान और किसी महापुरुष के मृत्यु का सूचक होने के कारण अत्यंत अमंगलकारी है।”

आकाश में बिजली के चमकने तथा उसके विभिन्न प्रकार के रंगों को देखकर लोग अनेक प्रकार की आशंका करने लगते हैं। इस संबंध में यह श्लोक प्रसिद्ध है –

वाताय कपिला विद्युत् ; आतपायातिलोहिनी।
श्यामा भवति सस्याय ; दुर्भिक्षाय सिता भवेत्।

अर्थात् यदि आकाश में भूरे रंग की बिजली दिखाई पड़े, तो बड़े ज़ोरों से अंधड़ आता है, यदि लाल हो तो अतिशय गर्मी पड़ती है, काली होने पर अन्न अधिक पैदा होता है परंतु यदि वह सफ़ेद रंग की हो,तो निश्चित ही अकाल पड़ता है। इस प्रकार बिजली के रंग से ही उसके शुभ और अशुभ होने का अनुमान लगाया जाता है , यह भी मान्यता ही है।

आकाश में छाये बादलों को देखकर अनेक प्रकार के शुभाशुभ की कल्पना लोक में की जाती है। ऐसी प्रसिद्धि है कि सफ़ेद बादल वर्षा करते हैं और काले मेघ गड़गड़ाते हुए केवल भय का संचार करता है। जो बादल संध्या के समय आकाश में छाये हुए दिखाई पड़ते हैं, वे बिना बरसे नहीं रह जाते। इस सम्बन्ध में एक लोकोक्ति प्रचलित है कि सन्ध्या के समय आकाश में उमड़ा हुआ बादल और साँझ को आया अतिथि कहीं नहीं जाता,यानी ठहरता है। “सांझि के बादल अवरू पाहुना, लवटि के ना जाला।” अर्थात् बादल अवश्य ही बरसेगा और अतिथि रात भर निवास

करेगा। वर्षा विज्ञान के आचार्य भड्डरी की उक्ति है कि यदि तीतर के पंख जैसी बदली आकाश में छा जाये तो अवश्य ही वर्षा होगी।

"तीतर बरनी बादरी, रहे गगन पर छाय।
डंक कहै सुनु भड्डली, बिन बरखै ना जाय।"

वर्षा के सम्बन्ध में अनेक लोक विश्वास संस्कृत काव्यों तथा लोक में पाये जाते हैं। वर्षा के भी तीन-चार प्रकार माने जाते हैं :- यथा -1. जल वर्षा , 2. धूलि वर्षा, 3. रुधिर वर्षा तथा 4. पुष्प वर्षा। इसमें प्रथम और चतुर्थ शुभ तथा दूसरा और तीसरा अशुभ माना जाता है। "अत्यंत्त अधिक वृष्टि, जिससे जल प्लावन का दृश्य दिखाई पड़ने लगे, अशुभ है।"

अतिदृष्टि:, अनावृष्टि:, मूषिका:, शलभा:, शुका:।
प्रत्यासन्नाश्च राजान:, षडेता: ईतय: स्मृता: ॥

"घाघ ने कहा है कि यदि सावन शुक्ला सप्तमी की आधी रात को वर्षा हो तो इसे दुर्भिक्ष का लक्षण समझना चाहिए।"

सावन सुक्ला सप्तमी; जो बरसै अधिरात।
तूँ पिय जैयो मालवा, हम जावै गुजरात।।

इन्द्र धनुष से सम्बन्धित भी कई लोक मान्यताएँ हैं, जिसे लोग स्वीकार करते हुए दिखाई पड़ते हैं। इन्द्र धनुष को पंजाब में बीबी बाई का झूला कहा जाता है। इन्द्र धनुष का सम्बन्ध सर्प से भी माना जाता है। लोगों की यह धारणा है कि यह पृथ्वी के नीचे निवास करने वाले शेष नाग के मुँह का गाज (फ्यूम) है, जो आकाश में दिखाई पड़ता है। सर्प से सम्बन्धित होने के कारण "ब्रिटेन के बालक उस स्थान पर सुवर्ण होने की संभावना मानते हैं, जहाँ इन्द्र धनुष पृथ्वी को छूता हुआ दिखाई पड़ता है।"

इसी प्रकार पृथ्वी सम्बन्धी भी अनेक लोक मान्यताएँ प्रसिद्ध हैं। पृथ्वी हमारी माता के समान पोषण करती है और उसी से हम बने हैं। वह रत्न गर्भा है, इसीलिए उसे वसुधा भी कहा जाता है। प्राणी का दृश्यमान शरीर में पृथ्वी का अशांश सबसे ज्यादा माना जाता है। वेदों में विभिन्न प्रकार से पृथ्वी की स्तुति एवं पूजा का विधान है। पंजाब में यह प्रथा विद्यमान है कि जब कोई गाय या भैंस बच्चा देती है, तब उसे दुहते समय दूध की प्रथम पाँच धार को पृथ्वी पर गिरा दिया जाता है। जब दूध के साथ दवा खायी जाती है, तब उस समय दूध की चार बूँदों को पृथ्वी पर गिरा देने की परम्परा और मान्यता है। उत्तरी भारत में भी धरती माता के सम्बन्ध में अनेक मान्यताएँ प्रचलित हैं।

लोक मान्यता में मंगल ग्रह भी शनि की भाँति दुष्ट ग्रह के रूप में स्वीकार किया जाता है। परंतु जिस व्यक्ति के जन्म कुंडली में मंगल ग्रह अपने घर में स्थित होता है, उसकी उन्नति का यह कारण बनता है। मंगल ग्रह का दिन मंगलवार है, इसीलिए इसकी शांति के लिए लोग व्रत इत्यादि करते रहते हैं। मंगल ग्रह का स्वरूप लाल माना जाता है, इसलिए इनकी प्रसन्नता के लिए लाल रंग से सम्बन्धित कपड़ा-भोजन-पकवान इत्यादि इन्हें अर्पित करने की परंपरा है। इस दिन कुछ धार्मिक लोग नमक नहीं खाते। यह मान्यता है कि रविवार और मंगलवार को अलोना भोजन करना आरोग्यवर्द्धक होता है।

मृत्यु के पहिले बीमार व्यक्ति को जमीन पर सुला दिया जाता है, जिसे भोजपुरी प्रदेश में भुँईसेज कहा जाता है। रजस्वला के लिए पृथ्वी पर ही सोना विहित है। पलंग पर उसके लिए सोना निषिद्ध है। इसी प्रकार बच्चा पैदा करने के समय भी वह पृथ्वी पर ही लेटती है।

उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों में यह परम्परा प्रचलित है कि विवाह के एक-दो दिन पहिले, घर की स्त्रियाँ गाँव के बाहर किसी मिट्टी के गड़हा (पिट,गड्ढा) में से मिट्टी खोदकर घर लाती हैं। इस प्रथा को माँटी कोड़ाई (गोंडाई) अथवा मटिमंगरा भी कहा जाता है। इस मिट्टी से विवाह का चबूतरा तथा यज्ञ वेदी बनाई जाती है। इसी मिट्टी से वह चूल्हा भी बनाया जाता है, जिस पर विवाह में 'कुंवरथ' का भात पकाया जाता है। यह अप्रत्यक्ष रूप से पृथ्वी माता के प्रति आदर प्रदान करना है। "महाराष्ट्र के ठाणे जिले में यदि कोई माता अपने छोटे शिशु को गोदी में लेकर बाहर जाती है, तो काजल के अभाव में वह अपने पैर की धूलि को उसके ललाट में लगा देती है, जिससे किसी की बुरी नज़र उसे लगने न पाये।"

इसी प्रकार लोक में वृक्षों-नदियों-पशु-पक्षियों इत्यादि से सम्बन्धित अनेक मान्यताओं और परम्पराओं को ग्रहण किया जा सकता है। मूल रूप में परंपरा से तात्पर्य उस प्रचलन या प्रथा से है, जो सदियों से पूर्वजों अथवा व्यक्तियों के द्वारा स्वीकार्य है और जिसे लोक मान्यता के रूप में ग्रहण करते हैं।

समवेत रूप में यह कहा जा सकता है कि लोक मान्यताएँ और परम्पराएँ हमारे द्वारा जीवन को सार्थकता प्रदान करने के लिए बनाए गए हैं लेकिन कतिपय कारणों से कुछ लोक मान्यताएँ और परम्पराएँ इतनी रूढ़ हो चुकी हैं कि कहीं-कहीं जीवन विरोधी कार्य वृत्तियों को अंजाम दे रही हैं। ऐसी परम्पराओं को कदापि ग्रहण नहीं करनी चाहिए, जिससे जीवन का अवमूल्यन और अमंगल की स्थिति पैदा हो। हालाँकि पूर्वजों द्वारा बनाई गयी बहुत सी परम्पराएँ और मान्यताएँ वैज्ञानिक शोधों पर भी खरी उतरी हैं और उनके माध्यम से जीवन का सतत् और शाश्वत् विकास और मंगल होना माना जाता है। एक बात तो तय है कि मान्यताओं और परम्पराओं का निर्वहन भोले-भाले और नैसर्गिक जीवन ग्रहण करने वाले लोग ही करते हैं और उन्हीं के विश्वास के कारण ही ये परम्पराएँ और मान्यताएँ अभी भी जीवित हैं, वरना वर्तमान समय की पीढ़ी कृत्रिमता के रंग में इतनी रंग चुकी है कि भौतिकता और विलासिता के आगे उसे कुछ नज़र ही नहीं आता। श्रमहीनता को बड़प्पन समझना, आज की नवीन परम्परा और मान्यता होती जा रही है। रेडीमेट जीवन- शैली की रोचकता, जहाँ भ्रम और संशय को जन्म दे रही है, वहीं जीवन-मंगल से युक्त हमारी मान्यताओं और परम्पराओं का क्षरण होना अब सामान्य होता जा रहा है। विश्वास, अब संज्ञा मात्र होने की स्थिति में है, जिसे किसी को ठगने और भ्रम पैदा करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। आज की स्थिति यह गौर कराती है कि जितने भी भाव जीवन के लिए सहायक हैं अब उनका प्रयोग छद्म रूप में करने के हम अभ्यासी होते जा रहे हैं। निजी स्वार्थ, परम्पराओं और मान्यताओं को सबसे ज्यादा नुकसान देने वाले होते हैं। मान्यताएँ और परम्पराएँ सार्वभौमिक होती हैं, जिन्हें सभी के कल्याणार्थ स्वीकार किया जाता है और इसी के चलते मानवता और आत्मीयता का सानिध्य हमेशा अनवरत मिलता रहता है।

डॉ. भुवनेश्वर दूबे
प्राध्यापक , हिन्दी विभाग
एस.एस.पी.पी.डी.पी.जी. कॉलेज
तिसुही, मड़िहान, मीरजापुर, उत्तर प्रदेश
मो. 9415510997, 9451152997
ईमेल- bh.dubey13@gmail.com

प्रकृति, शक्ति और स्त्री

नीलू शेखावत

संसार की सभी गतिविधियाँ शक्ति द्वारा शासित और संचालित होती हैं, इसलिए कहा गया है-

शक्ति क्रीड़ा जगत सर्वम्

अर्थात् सम्पूर्ण जगत शक्ति की क्रीड़ा है; शक्ति से रहित अवस्था शून्यता के समान है। भारतीय दार्शनिक परंपरा में शक्ति को केवल भौतिक सामर्थ्य नहीं, बल्कि चेतन सर्जनात्मक तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है, जिसके बिना न सृष्टि संभव है और न ही जीवन की गति।

देवी भागवत में भगवती स्वयं उद्घोष करती हैं-

सर्वम् खल्विदमेवाहं नान्यदस्ति सनातनम्।

अर्थात् समस्त जगत में ही हूँ, मेरे अतिरिक्त कोई तत्त्व सनातन नहीं।

नमः प्रकृत्यै भद्रायै कहकर शक्ति के इस सामर्थ्यवान भाव की धारणा प्रकृति या स्त्री रूप में की गई, यह रोचक विषय है जबकि सामान्यतः बल या पौरुष का प्रतीक पुरुष को माना जाता रहा है। यहां प्रकृति को पुरुष से अधिक वरीयता क्योंकर मिली? उत्तर है सर्जन। सम्पूर्ण सम्भावनाओं के बीज का नाम सर्जन है। यही शक्ति है जो सृष्टि को पुरानी नहीं पड़ने देती और उसे नित्य नवीन बनाए रखती है।

क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः

अर्थात् जो प्रत्येक क्षण नवीनता को धारण करता है वही रमणीयता का स्वरूप है।

'प्रकृति' शब्द का व्युत्पत्तिगत अर्थ दिया गया है- 'प्र' अर्थात ऊपरी या सत्व, 'कृ' का अर्थ है मध्य या रजस और 'ति' का अर्थ है नीचे या तमस्। इस प्रकार प्रकृति शब्द ऐसे भाव का बोध कराता है जो तीन गुणों (सर्जन, पोषण और संहार) से युक्त है। यह तीनों एक साथ कहीं दिखाई देंगे तो वह स्त्री ही है। वह जन्म दात्री है इसलिए नाश के अधिकार बल से भी सम्पन्न है। स्त्री शक्ति और सामर्थ्य की पराकाष्ठा है और यही पराकाष्ठा उसे 'देवी' का स्वरूप प्रदान करती है। शक्ति के अतिरिक्त उसका दूसरा रूप था स्वामिनी का। वेद ने तो उसे साम्राज्ञी, महिषी आदि सम्मानसूचक नामों से अभिहीत किया। स्वामिनी के लिए राजस्थान में एक शब्द प्रयुक्त होता है- धीराणी। धीराणी वह जो पूरे परिवार को धैर्यपूर्वक प्रतिकूलताओं के प्रबल वायु वेग में भी पर्वत की तरह अडिग रहकर संभाले।

मनुष्य को ईश्वर की सुंदरतम कृति कहा जाता है किन्तु यदि इसमें विभाग का प्रावधान होता तो निश्चय ही यह श्रेय स्त्री को मिलता। श्रमजीवी पुरुष ने हल उठाया तो स्त्री ने हसिया, उसने घर बनाया तो इसने बेल बूँटों और मांडनों से सजाया, उसने लकीरें खींची इसने रंग भरा। वस्तुत: घर को घर बनाया। भारतीय संस्कृति में स्त्री को द्वितीया नहीं, द्विहिता (दुहिता, दो कुटुंबों का हित करने वाली) माना गया है। उसका स्थान पुरुष के बाद नहीं, पुरुष के साथ है। पुरुष का ही एक भाग प्रकृति हुआ और दोनों का संयुक्त विग्रह अर्धनारीश्वर के रूप में पूजा गया। वही आद्या कहलायी और सबने उसके शक्ति स्वरूप की आराधना की। कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा धृति और क्षमा जैसे दिव्य गुण उसके पर्याय बने। इसका प्रत्येक कार्यव्यापार लोकाभिव्यंजना और उसकी समृद्धि से जुड़ा हुआ रहा है। वह अपने आस पास के जिस संसार की कल्पना और उसका निर्माण करती है, उसमें शिव और सुंदर का ही प्राधान्य है।

भारतीय लोक-यज्ञ की अग्नि को सतत प्रज्वलित रखने का अधिकांश श्रेय स्त्री को ही है। इसका एक समकक्ष संसार होता है जहाँ- "स्त्रीरैव प्रजापति: जो उसे रुचता है, वह बनाती जाती है। उसके गीत नितांत उसके अपने हैं, जिनकी गीतकार और गायिका वह स्वयं है। उसकी कहानियाँ उसकी अपनी हैं, जिसके पात्र और कथानक उसके अपने हैं। जीवन और उसके जीने के तौर तरीका, दृष्टिकोण उसका अपना है। इसके यहां कुछ भी नीरस नहीं, सब सरस ही सरस है। यहाँ सब सजीव है, निर्जीव जैसा कोई तत्व विद्यमान ही नहीं।"

पनघट से लेकर पहाड़ और पशु-पक्षियों तक से माता पिता व भाई के संबंध जोड़ने वाला हृदय लोक की स्त्री के अतिरिक्त कहाँ पाइएगा। उसका कार्यस्थल ही उसका सहचर है, जो उसके विषाद की व्यथा और हर्ष की हिलोर में समान साझेदार होता है। डिप्रेशन अथवा तनाव से मुक्ति पाने के लिए विशेषज्ञों द्वारा एक सलाह दी जाती है- "स्पीक अप! बात कीजिए।" जीवन के धरातल को जितना समतल हम समझते हैं या अपेक्षा रखते हैं, उतना समतल वह है नहीं। तो क्या संपूर्ण जीवन शिकायत में ही निकाल दिया जाए? लोक की स्त्री से पूछेंगे तो कहेगी- नहीं। "बात कीजिए।"

ससुराल में सास-ननद की आलोचना सुनने वाला कोई नहीं तो बोळाई (गोबर थापने की जगह) में ही अपने स्नेही की धारणा कर ली और सुना दी सारी व्यथा। अन्य के लिए जो गोबर का ढेर है, उसके लिए वह गोबरधन है, वह अकुरड़ी उसकी आत्मीय है। मवेशी पशु नहीं है, धन है और राख, राख नहीं, बल्कि लक्ष्मी है।

अपने परिवेश से उसके संबंध तात्कालिक नहीं है कि जिसे मात्र रोना रोने के निमित्त बना लिया गया हो, वह उनकी चिर साथिन है। घर में जब भी विवाहादि हर्षोत्सव होगा तो अकुरड़ी को भी पूजा और नूता (निमंत्रण) जायेगा। "अक्सर तुझे अपने दुखड़े सुनाती हूँ, आज सुख का समाचार भी सुन लो।" पनघट की पाळ को भी नूतने जाएगी। "कई बार तुमने अपने शीत स्वभाव से मेरे तप्त हृदय को शीतल किया है, आज मेरे आनंदोत्सव में भी शरीक हो।" गांव की पीपल और पथवारी इतनी प्रिय है कि जल का लोटा चढ़ाने के बाद उनको आलिंगन में लेगी। लगे हाथ बड़े बड़े कोटरों को उनके कान मानते हुए अपने मन-चित की बतला भी लेगी। सुग्गे को धरम का भाई लोक की स्त्री ही बना सकती है। यह राजस्थानी गीत बड़ा रोचक है जिसमें सुआ न केवल एक स्त्री की व्यथा को धैर्य से सुनता है अपितु आश्वासन भी देता है।

सुण म्हारा सुवा बीरा रे
बैठो अमुआ री डाल,
बोली रे थारी मीठी लागे रे।
म्हारी नानी बाई ए।
अतरों कई थारे काम,
कुबेळीया क्यूं सरवर आई ए।
सुण म्हारा सुवा बीरा रे
जनमत मरगी माय।
बाप म्हारो साधु व्है गयो रे।
म्हारा सुवा बीरा रे।
कुण तो बंधावे म्हाने धीर,
कुण तो म्हारो मायरो भरेला रे।
म्हारा सुवा बीरा रे।
लागी सरवरिया री पाळ,
सागर में डूब मरूँला रे।
म्हारी नानी बाई ए।

हिवड़े में धीरज धार,
सांवरियो बीरो बेगो आसी ए।

आश्वासन ने जीवन बचा लिया। गजब की जीवनी शक्ति है उसके गीतों में। दुःख में भी गाती है और सुख में भी। दही से भरे बिलौने को बिलोती हुई गुनगुनाती स्त्री, बड़े-बड़े माखन के लोंदों को उछालती स्त्री के वैभव की सहज कल्पना कोई क्या ही करेगा। किन्तु उस वैभव को विनम्रता से स्वीकार करने का हुनर उसी ने पाया है। हांडी की छाछ के छींटे सूर्य की ओर उछालती हुई जब वह कहती है— हे सूरज नारायण ! तावड़े के धणी ! तेरे फूल हैं, तेरा दिया हुआ प्रसाद है, मेरा इसमें कुछ नहीं तब यह वेद का - "इदं न ममः" नहीं तो और क्या है? इसे 'सुखेषु विगतस्पृहः' का व्यावहारिक रूप नहीं तो और क्या कहेंगे? ज्ञान को व्यवहार में जीना ही तो साधना है। लोक में कृतज्ञता के भाव का अधिकांश दाय स्त्रियों का है।

मेरी नानी गोबर से आंगन लीपने के बाद उसमें हमेशा आखे (अनाज के दाने) बिखेरती थी। उस समय आंगन में चिड़ियों के उछल-फुदक से आनंदित होने के अतिरिक्त और कुछ समझ नहीं आता था, किंतु अब समझ आता है- वह स्त्री हृदय जो अपने परिवार से भी पहले उन चिड़ियों के खोज (निशान) आंगन में उकेरना चाहती है, जिनकी चहचहाट से घर, घर सा लगता है। सावन में जब भी झूला डाला जाता तो सबसे पहले कीड़ी को बुलाया जाता। हमारे उत्सव में उसका भी अस्तित्व है।

भाई मायरा (बहन की संतानों का विवाह) भरने आता है तो बहन से भी पहले, उस कांकड़ (गांव का खेत- खलियान युक्त परिधि क्षेत्र)को चुनड़ी ओढाता है जो उसकी बहन के सुख-दुख का संगी बना क्योंकि सहोदरा ही बहन नहीं है, जननी ही माँ नहीं है, समस्त जीव-जंतु, वन-उपवन, लता-पता भी उसका परिवार है - उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।

सबके मंगल की कामना ही उसकी उपासना आराधना है। उसकी शुभेषणाओं व औदार्य का विरल वितान आबाल वृद्ध को समान रूप से आच्छादित करके रखता है। जब भी किसी ईश्वर ने उससे कहा – "पुत्री ! वर मांगो!" उसने यही चाहा –

खुणी भरी चटियां की दीजे (घर के वृद्ध चिरायु हो)

थळी भरी जूतां की दीजे (घर में खूब लोग हों, सभी सद्भाव के साथ एक परिवार बनकर रहें।)

सासू के जायां में सीर दीजे (ससुराल में संपत्ति रहे)

मां का जायां को मेळौ दीजे (माता के जायों की वंश वृद्धि हो)

राजस्थानी लोकगीतों में स्त्री अक्सर अपने पति को 'भंवर' नाम से संबोधित करती है।

भंवर म्हाने पूजण द्यो गणगौर...
म्हारा छैल भंवर रो काँगसियो ...
भंवर जी झाला देता आय...

भंवर से आशय ऐसे युवक (वर) से है जिसके पितामह जीवित और वे ही कुटुंब के मुखिया हों। इस संबोधन के पीछे कुटुंब के दीर्घायुष्य की कामना रही है। संयुक्त परिवार स्त्री की परिकल्पना में प्रमुख था। पितृ पक्ष में भी सभी अभिप्सित मनोरथ पूरे करवाने को लेकर पिता निर्भार रहे, क्योंकि यह उत्तरदायित्व तो कुटुंब के सबसे बड़े दादा या बाबोसा अर्थात् पिता के बड़े भाई का था। घर के अंदर यही चिंता दादी या बड़ी माँ के हिस्से थी। माता पिता निश्चिन्त थे। वैसे कन्या के लिए तो मायके का हर व्यक्ति अपना ही है। और तो और इसके देवता भी नितांत निजी हैं। मन किया तो ईसर गणगौर, मन किया तो दशा दीहाड़ा और मन किया तो गाज माता।

शास्त्र चाहे कहते होंगे कार्तिक पूर्णिमा को त्रिपुरारी पूर्णिमा, राजस्थान की कार्तिक स्नान करने वाली स्त्रियों के लिए तो यह पोखर पूंन्यु (पुष्कर पूर्णिमा) है। तीर्थराज पुष्कर से भी बड़ा कोई इस दुनिया में है भला? शास्त्रज्ञ कह दें- इस मास में जल में श्री हरि निवास करते हैं, किन्तु यहां की स्त्री ने तो इस मास के लिए अपना ही देवता गढ़ा है- राई (राय) दामोदर। किसी अन्य क्षेत्र की स्त्रियों ने भी निश्चित ही कोई अन्य नाम दे रखा होगा। विष्णु भगवान अपनी जगह है किंतु कार्तिक का पुण्य फल तो राय दामोदर ही तूठेंगे (तुष्ट होकर फल देना)।

पूछिए कि दामोदर तो ठीक है पर यह 'राई' क्या है? पचास महिलाओं के बीच में बैठी पंडिताइन (जो किसी भी जाति के हो सकती है बशर्ते सालों साल से स्नान ध्यान करके 'ज्ञानी' की पदवी धारण कर ले) कहेगी- राई मतबल रानी भगवान की रानी। अब कौन सी रानी है, इसमें पर्याप्त विवाद और विमर्श है।

इनके गीतों में रुक्मणी घमंडी और नकचढ़ी है। वह पटरानी होने के दर्प में चूर है इसलिए ठाकुर जी की सेवा नहीं करती। वह इनको बिल्कुल भी पसंद नहीं है। राधिका बड़ी सीधी है। जल्दी उठकर सब काम करती है, धीमी है (धीरज वाली) है, सीधी है और सरल है इसलिए सबको भाती है। कहते होंगे कहने वाले राधा को प्रेमिका मगर इन्होंने तो उसे ठाकुर जी के घर की राई बना दिया। गीत में रुक्मणी और उनकी सास के संवादों को ये स्त्रियां कुछ इस तरह गाती है-

थे तो ऊठो राणी रुक्मण करो जी रसोई।
म्हे क्यूं करां जी रसोई म्हारो अंग पसीजै
झट से उठी राणी राधका बा करी छै रसोई
हर के चौको दीनों भ्वारी काढ़ी कुंभ कळश भर ल्याई

गीतों में कभी राधा पटरानी बनती है तो कभी तुलसी पटरानी बनती है। राधा की तरह तुलसी भी सीधी सादी है। एकदम बैरागन। बाकी रानीयों से छुपाकर ठाकुर जी गहने घड़ा रहे हैं, पर पहनती नहीं है।

छाने छाने प्रभु जी रखड़ी घड़ावै
पहरे नहीं तुलछा राम बिना
राम बिना घनश्याम बिना
कुम्हला रही तुलछा राम बिना

उसके आभूषण तो स्वयं ठाकुर जी हैं। यही कारण है कि ठाकुर जी इसे कंठ में धारण करते हैं।

जब इतनी ही प्रिय है तो क्यूँ न दोनों का विवाह करवा दिया जाए? लाओ कुम्हार के घर से कोरे दीये। गोल मटोल शालीग्राम से बांधा मोळी (लाल पीले रंग का मांगलिक धागा) का गठजोड़ा और करा दिए फेरे। लाल चुनड़ में नन्ही तुलसी कभी इठलाती है तो कभी शर्माती है और स्त्री समूह ने इस तरह रच डाला अपने ही तरह का मंगल उत्सव।

वे कई आख्यान बनाती हैं और कईयों को ध्वस्त करती हैं। फिर अंत में हंसकर, खिलखिलाकर चिड़ियों की तरह गीत गाते हुए अपने अपने घरों की ओर फुर्र हो जाती है।

सेणों बेणों राम-राम ए, आंपां फेर मिलां ला ए

स्त्री लोकधर्म की संवर्धना का प्रवाह है, जिसके अभाव में लोक निर्जीव, हतबुद्धि और हृदय शून्य है। लोक वह शिशु है जो स्त्री के लाड़ में न केवल लडाया गया वरन् पालित, पोषित, पुष्ट और संवर्धित भी हुआ।

सूर्य जैसे नवो नवो भवसि जायमान: (उत्पन्न होते हुए बार-बार नए– अथर्व. 7/81/2) हैं, वैसे ही लोक भी प्रत्येक युग में परंपरा के साथ नव्यता की डोर और छोर जोड़कर स्वयं को अद्यतन करता है। यही कारण है कि लोक कभी अप्रासंगिक नहीं होता। इसकी यह प्रासंगिकता तब तक निस्संदिग्ध रूप से बनी रहेगी जब तक स्त्री से लोक और लोक से स्त्री परस्पर भावित होते रहेंगे।

नीलू शेखावत
फ्लैट नं. HB-103, HIG block, प्रताप अपार्टमेंट,
सेक्टर 28, प्रतापनगर, सांगानेर,
जयपुर, 302033 (राजस्थान)

विष्णु का विशिष्ट गण्डभेरुण्ड पक्षी अवतार

प्रो. (डॉ.) आर. एन. विश्वकर्मा

यदा-यदा हि धर्मस्यग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य
तदात्मानं सृजाम्यहम्।।
परित्राणाय साधुनां विनाषाय च दुष्कृताम। धर्म संस्थापनार्थाय
सम्भवामि युगे-युगे।।

भगवतगीता, 4/7/8

अर्थात भगवान कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि हे अर्जुन जब-जब इस धरा पर धर्म की हानि होती है और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब मैं स्वयं अवतरित होता हूँ। सज्जनों की रक्षा करने, दुष्टों का विनाश करने और धर्म की फिर से स्थापना करने के लिए, मैं हर युग में जन्म लेता हूँ।

ब्राह्मण धर्म के त्रिदेवों (ब्रह्मा-विष्णु-महेश) को प्राकृतिक गुणों (सत-रज-तम) के अनुसार सृष्टि ब्रह्मा को सत, पालनकर्ता विष्णु को रज एवं संहारकर्ता शिव को तमस का प्रतीक माना गया है। पौराणिक युग में त्रिदेवों की मान्यता के पीछे सृष्टि के उद्भव और प्रलय की बातों का विचार किया गया था। देवता से ही स्फुरित होकर जगत, प्रलय काल में उन्हीं में मिल जाता है। विष्णु के अवतारों की संख्या पुराणों (महाभारत, हरिवंशपुराण, वायुपुरा, अग्निपुराण, भागवतपुराण, वराहपुराण एवं मत्स्यपुराण आदि) में भिन्न-भिन्न दी गई है। कालान्तर में सर्वमान्य प्रमुख दस अवतारों यथा- मत्स्य, कूर्म, नरसिंह, वराह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि को कला में प्रायः अंकन हुआ है। विष्णु के दशावतारों में चौथा नरसिंह (नृसिंह) अवतार है। नरसिंह एक स्वतंत्र देवता प्रतीत होता है, जिसकी एकता विष्णु से की गई है। बैबीलोनिया तथा असीरिया में नृसिंह की पूजा प्रचलित थी। वहाँ की मूर्तियों में पूरा शरीर सिंह का और मुख मनुष्य का है। किन्तु भारत में नृसिंह मूर्ति का सिर सिंह का और पूरा शरीर मनुष्य का है। कहा जाता है कि बालि, नृसिंह का उपासक था। गुप्तकाल के बाद वैष्णव धर्म में एक पृथक सम्प्रदाय बन गया था, जिसके मानने वाले अपने को नारसिंह कहते थे।

विष्णुपुराण में नृसिंह अवतार का वर्णन अत्यन्त संक्षेप में हुआ है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में ऐसा प्रसंग प्राप्त होता है कि हरि ने संकषर्ण के अंश से नरसिंह रूप धारण किया। नरसिंह अवतार की कथा अनेक पुराणों में मिलती है। भागवत पुराण से ज्ञात होता है हिरण्यकश्यपु ने ब्रह्मा से यह वरदान मांगा था कि वह किसी प्राणी से, आकाश, पृथ्वी आदि कहीं भी, किसी शस्त्र से, दिन अथवा रात में न मारा जाय। इस तरह का वरदान प्राप्त कर दुर्दान्त दैत्य हिरण्यकश्यपु, हरि का घोर विरोधी हो गया। किन्तु उसका पुत्र प्रह्लाद हरि (विष्णु) का अनन्य भक्त था। एक दिन क्रोधित होकर हिरण्यकश्यपु ने प्रह्लाद से पूंछा कहाँ है, तेरा हरि? इस पर प्रह्लाद ने उत्तर दिया भगवान सर्वत्र हैं, यहाँ तक कि इस स्तम्भ में भी। इतना सुनते ही हिरण्यकश्यपु ने असि से स्तम्भ पर प्रहार किया, जिसमें से भगवान विष्णु, नृसिंह रूप में दहाड़ते हुए विचित्ररूप में प्रकट हुए। वह रूप न पूर्णतः सिंह का था और न मनुष्य। इस नरसिंह रूप में उन्होंने दैत्य को अपनी जंघा पर रख अपने नाखूनों से उसका उदर विदीर्ण कर प्राणान्त कर दिया। तत्पश्चात प्रह्लाद को वरदान देकर अन्तर्ध्यान हो गए।

दक्षिण भारतीय आगम ग्रन्थों में हिरण्यकश्यपु-बध कथानक विस्तारित हुआ है। इन ग्रन्थों में विवर्त है कि हिरण्यकश्यपु का बध करने के बाद नरसिंह की रक्त पिपाषा इतनी बढ़ गई कि वे सम्पूर्ण जगत (देव-दानव) का रक्तपान करने हेतु चल पड़े, ऐसी स्थिति में देवताओं ने भगवान शिव से अपनी रक्षा करने हेतु प्रार्थना किया। तब शिव ने शरभेष रूप धारण कर नरसिंह को फाड़ डाला और उनकी खाल को अपने शरीर पर धारण कर लिया तथा उनके मस्तक को गले में पहन लिया। कामिकागम् के अनुसार शरभ प्रतिमा में कमर के ऊपर का भाग मानव जैसा, मस्तक भाग सिंह के समान तथा आठ पैर, दो पंख और दो निकले हुए दाँत दिखाने चाहिए। बैखानस आगम के अनुसार नृसिंह चार भुजा वाले बताये गये हैं, जिसमें से पीछे के दो हाथों में शख, चक्र धारण किये हुए तथा अन्य दो हाथ घुटनों तक फैले हैं। इस प्रकार की एक प्रतिमा धेनुपुरीश्वर (शरबेश्वर शिवम मन्दिर), मडम्बक्कम, चेन्नई में मिलती है। श्री तत्वनिधि में शरभेष के बत्तीस हाथों का वर्णन किया गया है, जो आयुधों से युक्त होता है। उत्तरकर्णागम में इस प्रतिमा की बड़ी प्रशंसा की गयी है। बनर्जी महोदय ने दारासुरम् के मन्दिर में स्थित शिव की शरभेष प्रतिमा का उल्लेख किया है, जिसमें शरभेष के द्वारा नृसिंह को फाड़ने का दृश्य प्रदर्शित किया गया है। तंजोर जिले के त्रिभुवन के शिवमन्दिर में स्थित ताम्र निर्मित शरभेष प्रतिमा दृष्टव्य है।

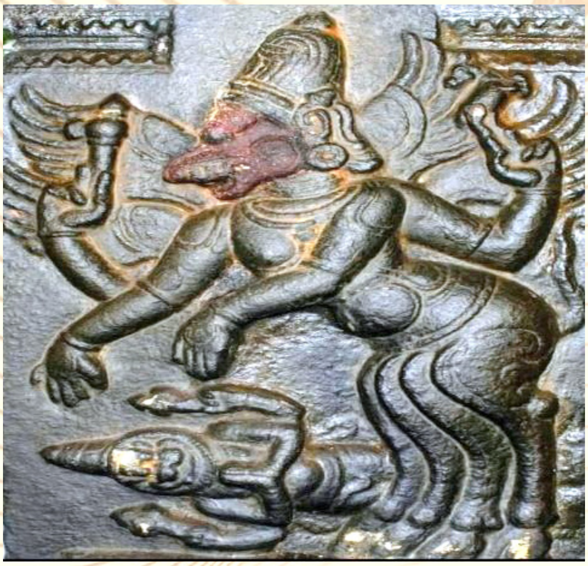

नैगम ग्रन्थों की अपेक्षा आगम ग्रन्थों में हिरण्यकश्यपु-बध कथानक और आगे बढ़ता है, जिसमें वर्णित है कि नरसिंह का बध करने के पश्चात नरसिंह के क्रोध के अनुरूप शरभेष का क्रोध भी शान्त नहीं हुआ और वह

> विष्णु के अवतारों की संख्या पुराणों (महाभारत, हरिवंशपुराण, वायुपुरा, अग्निपुराण, भागवतपुराण, वराहपुराण एवं मत्स्यपुराण आदि) में भिन्न-भिन्न दी गई है। कालान्तर में सर्वमान्य प्रमुख दस अवतारों यथा- मत्स्य, कूर्म, नरसिंह, वराह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध और कल्कि को कला में प्रायः अंकन हुआ है।

सम्पूर्ण जगत के सभी जीवों का रक्तपान करने हेतु निकल पड़े, ऐसी स्थिति में देवताओं ने क्षीरसागर में शयन कर रहे भगवान शेषशायी विष्णु से अपनी रक्षा करने हेतु प्रार्थना किया। तब भगवान विष्णु ने गण्डभेरुण्ड नामक शक्तिशाली मानव-पक्षी का रूप धारण कर शरभेष का क्रोध शान्त किया और शरभेष को अपनी चोंच में दबा कर आकाश में उड़ गये। यह भी कथानक मिलता है कि गण्डभेरुण्ड और शरभ के बीच भयानक युद्ध हुआ, जिससे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में भय फैल गया। अन्त में आदिशक्ति प्रत्यंगिरा रूप ग्रहण करके उनके युद्ध को रोका। ध्यातव्य हो कि प्रत्यंगिरा एक शक्तिशाली हिन्दू देवी हैं, जिन्हें भगवान शिव ने हिरण्यकश्यपु के बध के बाद उग्र नरसिंह के क्रोध को शान्त करने के लिए प्रकट किया था। इस देवी का सिर सिंह का और शरीर स्त्री का होता है (नारसिंही), जो पुरुषत्व और स्त्रीत्व (शिव-शक्ति) के सन्तुलन को दर्शाता है। यह देवी शत्रुओं, काले जादू और नकारात्मक शक्तियों से रक्षा करने वाली, अथर्ववेद की अधिष्ठात्री, उग्र और परम रक्षक मानी जाती हैं, जिन्हें अथर्वन, भद्रकाली, निकुम्भला भी कहते हैं।

गण्डभेरुण्ड दो मुखी पौराणिक दैवीय पक्षी है, जिसका उल्लेख सनातन धर्म में पाया जाता है। गण्डभेरुण्ड की प्रतिमाएं कर्नाटक के विभिन्न मन्दिरों और संग्रहालयों में देखी जा सकती हैं। भारतीय शिल्पकला में गण्डभेरुण्ड को कभी-कभी उसका पूरा शरीर मनुष्य का तथा सिर दो मुखी गरुड़ पक्षी के सदृश्य होता है, जो अपनी चोंच में कभी मानवाकृति तथा कभी हाथी अथवा सिंह दबोचे हुए अंकित किये गये हैं। इस प्रकार की सबसे प्राचीन प्रतिमा कर्नाटक के शिमोगा जिले में शिकरीपुर नगर के बल्लीगेव नामक स्थान में चालुक्य कालीन (1047 ई.) श्री बरुण्डेश्वर शिवमन्दिर में देखी जा सकती है।

कभी-कभी इसका अंकन षडभुजी मनुष्य के रूप में किया गया है, जिसमें मुख्य मुख मानव का तथा उसके अगल-बगल पक्षी के मुखों को दिखाया जाता है। वे दो हाथों से शरभ को अपने कन्धे पर लिए हुए उकेरे गये हैं। उनके अन्य हाथों में विभिन्न प्रकार के आयुध प्रदर्शित होते हैं। इस प्रकार की एक प्रतिमा महाराष्ट्र में अम्बाजोगई के बाराखम्बी मन्दिर में प्राप्त होती है।

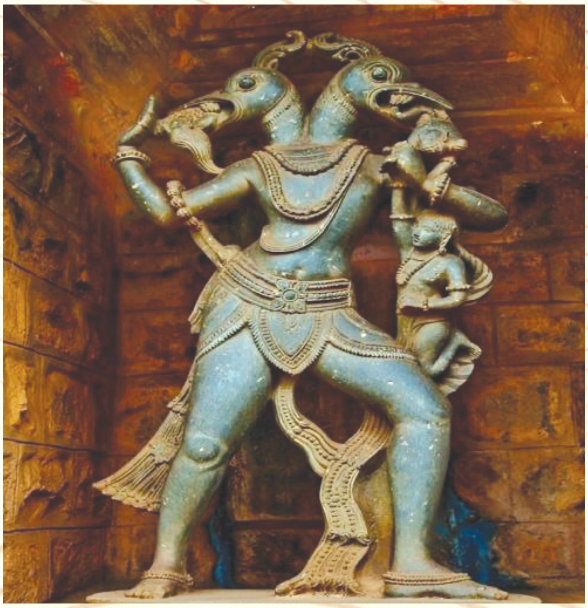

चेन्नाकेशव मन्दिर, बेलूर (कर्नाटक) में भी गण्डभेरुण्ड को एक जटिल नक्काशीदार मूर्तिकला के रूप में दर्शाया गया है। प्रायः इसका अंकन शिल्प एवं चित्रों में दो मुखी विशाल पक्षी के रूप में भी मिलता है, जहाँ वह अपने चोंचों में सिंह और पंजों में हाथियों को पकड़े हुए दिखाये गये हैं। ऐसा ही एक अंकन रामेश्वरम मन्दिर, केलाडी, जिला शिमोगा, कर्नाटक में मिलता है।

Praveen Mohan
183K

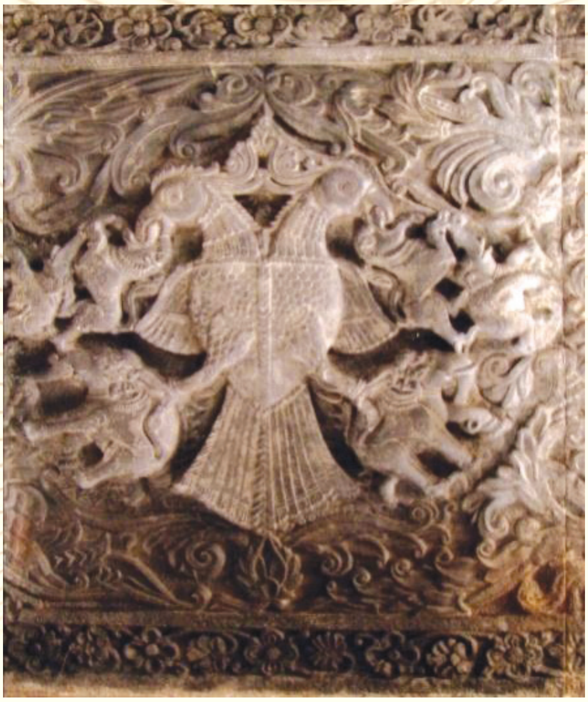

विजय नगर साम्राज्य के प्रारम्भिक सिक्कों में इसकी नक्काशी मिलती है। दक्षिण के कई राज्यों यथा- विजय नगर, मैसूर, चालुक्य और कदम्बों ने इस प्रतीक का प्रयोग राज्य चिह्न के रूप में किया था। मैसूर पैलेस में इसे आज भी देखा जा सकता है। आज भी कर्नाटक के राज्य चिह्न के रूप में प्रयुक्त होता है। इस प्रकार दक्षिण भारत के अनेक शैवमन्दिरों की मूर्तियों एवं चित्रों में इसका अंकन प्रायः मिलता है।

प्रो. (डॉ.) आर. एन. विश्वकर्मा
ए/18, गंगा सदन, कुसुम नगर,
राजनांदगाँव, छ. ग., पिन कोड 941 441
Email- drrnvishwa@gmail.com

छत्तीसगढ़ी लोकगीत और सुआ

डॉ. लूनेश कुमार वर्मा

मानव संस्कृति वस्तुतः लोक संस्कृति है। लोक में ही मानव संस्कृति पुष्पित और पल्लवित हुई है। लोकगीत, लोकगाथा, लोकनाट्य, लोकनृत्य आदि लोककला के अंग हैं। विभिन्न अंगों के पुष्ट होने से शरीर पुष्ट होता है। इसी तरह लोककला के विभिन्न अंगों के पुष्ट होने से संस्कृति अजर-अमर होती है। संसार में जो कुछ भी है, वह लोक में समाहित है या वेद में। इसमें भी वेदों से पूर्व और व्यापक सत्ता लोक की है। लोक की सत्ता सर्वत्र है। शब्दानुशासन में लोक और वेद के विषय में कहा गया है- "लोके च वेदे च अर्थात लोक में और वेद में भी।" लोकमानस धरती को माता के रूप में मानता है। इसलिए प्रकृति के विभिन्न उपादानों से मनुष्य सहज संबंध स्थापित कर लेता है।

लोक की यात्रा नदी की तरह है, जिसमें निरंतरता होती है। समय प्रवाह से रस ग्रहण करते हुए लोक परिपुष्ट होता है। इसी परिपुष्टि में लोकसाहित्य विकसित होता है। आज जितने भी लोकगीत-संगीत व्यवहृत हो रहे हैं, वे समय प्रवाह से रस अवश्य ग्रहण करते हुए परिपुष्ट हुए हैं। यद्यपि इनमें बहुत अधिक परिवर्तन की संभावना नहीं रहती है, तदपि मूल गीत-संगीत से परिष्कृत होते हैं।

लोक सदियों पुरानी कला को जीवंत रखता है। प्रकृति से संबद्ध विभिन्न लोकगीत, लोकगाथा, लोकनाट्य, लोकनृत्य की धारा आदिकाल से अद्यपर्यंत निरंतर गतिमान है। लोककला, लोकसंस्कृति और लोकपरंपराओं से समृद्ध जन-जीवन स्वाभिमानी और आत्मविश्वासी होता है। मनुष्य का समग्र चिंतन दर्शन लोक से ही अनुप्राणित और समाहित है।

आदिम काल में पहले-पहल मानव ने लोकगीत-संगीत का रूप अपनाया। गीतों में लय होती है, और यह संगीत से आबद्ध होकर सहज और सरस अभिव्यक्ति करने लगता है। "लोकगीत 'लोक' की सांस्कृतिक यात्रा का ऐसा साक्षी है, जो अपनी परंपरा में नवीनता का पक्षधर है।" लोकसाहित्य संगीतमय होने से और अधिक रोचक हो जाता है। कुछ लोकगीत चित्रात्मक होते हैं। जिन्हें सुनकर श्रोता किसी घटना विशेष को अपनी आँखों के समक्ष होता हुआ अनुभव करते हैं।

सामाजिक व्यवस्थाओं और परंपराओं से लोकगीत हस्तांतरित होता है। इसकी रचना किसी व्यक्ति की न होकर किसी समूह के व्यक्तियों की होती है जिसमें उस समाज का व्यक्तित्व समाहित होता है। इसलिए लोकगीतों में किसी समूह अथवा जाति का समवेत स्वर जान पड़ता है। लोकगीतों में लोकजीवन के संस्कारों की अनूठी छाप होती है।

भारत के मध्य दक्षिण पूर्व में स्थित छत्तीसगढ़ जनजातीय बहुल क्षेत्र है। यहाँ का अधिकांश भाग वनाच्छादित है। लोक में छत्तीसगढ़ धान का कटोरा के रूप में सुविख्यात है। यहाँ भिन्न-भिन्न बोलियाँ बोली जाती हैं, उनमें मुख्य रूप से छत्तीसगढ़ी है। यहाँ लोग सरलता-सरसता से छत्तीसगढ़ी का व्यवहार करते हैं। समस्त भू-भाग की तरह छत्तीसगढ़ की धरा भी लोककला से सुसंपन्न है। यहाँ की लोककला और सांस्कृतिक विविधता अत्यंत समृद्ध है। यहाँ लोक कला का सुदीर्घ इतिहास है। छत्तीसगढ़ की धरा लोकसाहित्य, लोककथाओं, लोकगीतों और समृद्ध मौखिक परंपराओं की धरोहर रही है। यहाँ हजारों लोक कलाकार हैं, जो न केवल देश में अपितु विदेशों में भी अपनी कला का प्रदर्शन कर अमिट छाप छोड़ चुके हैं।

लोककला-साहित्य-संस्कृति की उत्पत्ति के विषय में ठीक-ठाक जानकारी नहीं मिलती है, क्योंकि लोक की सत्ता वेदों से पहले की है। इसलिए उत्पत्ति के विषय में प्रामाणिक तथ्यों का मिलना प्रायः संभव नहीं हो पाता है। ऐसी स्थिति में जन श्रुति व परंपरागत प्रचलित लोक कथाओं पर विश्वास करना होता है। आंचलिक बोली में लोकगीतों का सौंदर्य देखते बनता है। स्थानीय लोग उन्मुक्त कंठ से लोकगीतों में डूब जाते हैं। लोकगीतों के लिखने वाले और पहले-पहल गाने वालों का कोई ओर-छोर पता नहीं चलता है। छत्तीसगढ़ में प्रचलित लोकगीत सुआ के विषय में भी कुछ इसी तरह की स्थितियाँ हैं।

सुआगीत कब से प्रचलित है, इसके विषय में ठीक-ठीक जानकारी नहीं मिलती है। जन श्रुति के अनुसार माता सती एक बार शिव जी से रूठ गई थी। तब शिवजी ने उनकी छोटी बहन गौरी के साथ रात्रि में विवाह कर लिया था। सती को ज्ञान होने पर वह गौरी को उलाहना देती है। इस पर गौरी प्रातः जल समाधि धारण कर लेती हैं। आज भी दीपावली के अवसर पर गौरी-गौरा का विवाह-पूजन रात में होता है और प्रातः जल में विसर्जित कर दिया जाता है। दीपावली के अवसर पर ही सुआ गीत गाया जाता है। कहीं न कहीं इस सुआगीत के मूल में इस कथा का करुण अंश समाहित है।

लोक संस्कृति छत्तीसगढ़ की संस्कृति और विरासत का महत्वपूर्ण अंग है। छत्तीसगढ़ी में ही तरह-तरह के लोकगीत लोगों के द्वारा विभिन्न अवसरों पर गाए जाते हैं। लोकगीत उन गीतों को कहा जाता है, जो मौखिक रूप से लोकजीवन में रचा-बसा है, जो सदियों से आज तक मौखिक रूप में व्यवहृत हो रहा है। पितृ पुरुष समाज में विवाह पश्चात कन्या को पिता का घर छोड़कर पति के घर जाना होता है। वहाँ उसे विभिन्न नवीन स्थितियों का सामना करना होता है। "पारिवारिक विघटन, कलह, आर्थिक संकट, परिवार का पलायन, पति का परदेश जा बसना, सौतन का आना, नि:संतान होना, देवर-देवरानी, जेठ-जेठानी, सास-ससुर द्वारा व्यक्तिगत रूप से प्रताड़ित करने जैसी स्थितियों से व्यथित होकर नारी अपनी पीड़ा 'सुआ' को संबोधित कर नि:संकोच व्यक्त कर देती है।" कोई अपना न रहने पर मन

सुआगीत कब से प्रचलित है, इसके विषय में ठीक-ठीक जानकारी नहीं मिलती है। जन श्रुति के अनुसार माता सती एक बार शिव जी से रूठ गई थी। तब शिवजी ने उनकी छोटी बहन गौरी के साथ रात्रि में विवाह कर लिया था। सती को ज्ञान होने पर वह गौरी को उलाहना देती है। इस पर गौरी प्रातः जल समाधि धारण कर लेती हैं। आज भी दीपावली के अवसर पर गौरी-गौरा का विवाह-पूजन रात में होता है और प्रातः जल में विसर्जित कर दिया जाता है। दीपावली के अवसर पर ही सुआ गीत गाया जाता है।

की पीड़ा को अभिव्यक्त करने के लिए मूक जीव-जंतुओं का आश्रय लेना पुरानी परंपरा रही है। पीड़ित, विवश नारी सुआ के माध्यम से अपनी व्यथा-कथा कहती है। निश्चय ही सुआ करुणा प्रधान गीत है।

छत्तीसगढ़ में लिखित की अपेक्षा मौखिक रूप से छत्तीसगढ़ी अधिक समृद्ध है। "छत्तीसगढ़ी के पास अलिखित साहित्य का अपार भंडार है, जिसका एक बड़ा हिस्सा लोकगीतों के रूप में है। इन लोकगीतों में मानव हृदय की उबलती हुई भावनाएँ झरनों की तरह फूटकर निकली हैं।" छत्तीसगढ़ में लोकगीतों की बहुलता है। इसलिए छत्तीसगढ़ को लोकगीतों की पुष्प वाटिका कहा जा सकता है। इस वाटिका के पुष्प रूपी लोकगीतों में प्रमुखता से सुआ, बारामासी, सवनाही, ददरिया, गौरा, भोजली, जंवारा, छेरछेरा, बिहाव, पंथी, फाग और भजन प्रमुख हैं।

छत्तीसगढ़ में जो लोकगीत प्रचलित हैं. उन्हें मुख्यतः सात वर्गों में विभाजित किया जाता है। उनमें विभिन्न संस्कारों से संबंधित गीतों के अंतर्गत- सोहर गीत, विवाह गीत और पठौनी गीत को रखा जाता है। ऋतु से संबंधित गीतों में फाग गीत, बारहमासी गीत, सवनाही गीतों को रखा जाता है। विभिन्न उत्सवों के अवसर पर गाए जाने वाले गीतों के अंतर्गत छेरछेरा गीत, राउत नाचा के दोहे, सुआ गीतों को रख जाता है। धर्म और पूजा के अवसर पर गाए जाने वाले गीतों के अंतर्गत गौरा गीत, माता सेवा के गीत, जंवारा गीत, भोजली गीत, धनकुल के गीत, नागपंचमी के गीतों को वर्गीकृत किया जाता है। लोरी व बच्चों के खेलों के गीत के अंतर्गत लोरियाँ, बइठे फुगड़ी, खड़े फुगड़ी, कांऊ-मांऊ, चांऊ-मांऊ, डांडी-पौहा, खुडुवा, भौंरा, बच्चों को बहलाने के गीत आदि आते हैं। मनोरंजन के गीतों में करमा, झंडा गीत, नचौरी गीत, ददरिया, बाँस गीत, देवार गीतों को रखा जा सकता है। अन्य गीतों में भजन, पंथी गीत, कबीर पंथियों के पद आदि।

लोकगीतों में पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं की भूमिका अधिक होती है। छत्तीसगढ़ के लोगों के द्वारा स्थान-स्थान पर झूमते-झूमाते लोकगीतों का व्यवहार होता है। यहाँ भी पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं का अधिक आधिपत्य परिलक्षित होता है। प्रायः लोकगीतों में स्थानीयता का प्रभुत्व होता है। बोल और धुन में विविधता देखने को मिलती है। छत्तीसगढ़ी लोकगीत अन्य क्षेत्रों में व्यवहृत होने वाले लोकगीतों से धुन के कारण अपनी विशिष्ट पहचान रखते हैं।

सुआ गीत महिलाओं के द्वारा गाए जाने वाला लोकगीत है। सुआ का तात्पर्य होता है- तोता। प्राचीन काल से तोता के माध्यम से संदेश प्रेषण किया जाता रहा है। "शिष्ट साहित्य एवं लोक साहित्य दोनों में ही प्राचीन काल से तोता वियोगी तथा वियोगिनी के संदेशों को एक दूसरे तक पहुँचने वाले संदेश वाहक के रूप में चित्रित किया गया है।" अन्य प्राणियों की तुलना में तोता विशेष होता है। यह मनुष्य की बोली की नकल करने में समर्थ होता है। संभवत: इसी कारण तोता को संदेश प्रेषित करने का माध्यम बनाया जाता रहा होगा। तोता के माध्यम से नारी अपने अंतस की पीड़ा को गीत के रूप में प्रकट करती है। सुआ गीत में नारी पीड़ा की अभिव्यक्ति का स्वर प्रमुख होता है। सुआ को संबोधित करके जो गीत गाया जाता है, उसे ही सुआ गीत कहा जाता है।

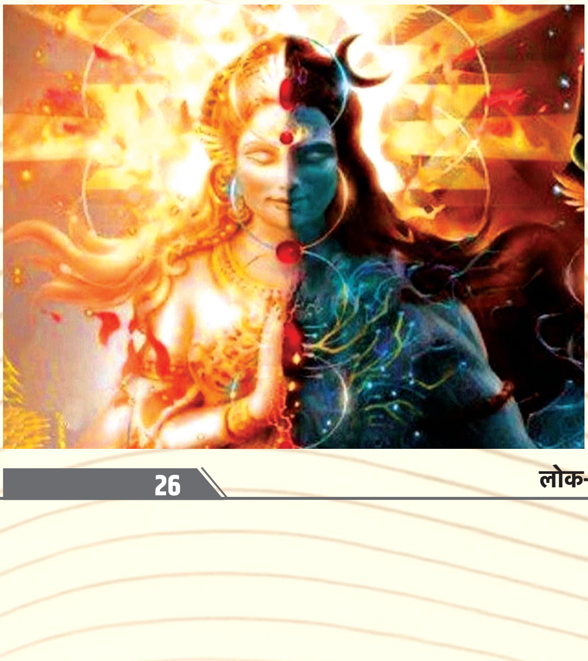

सुआ गीत का गायन कार्तिक महीने में किया जाता है। दीपावली त्योहार से कुछ दिन पूर्व नारियाँ घर-घर जाकर सुआ गीत गाती हैं। सुआ गीत में केवल गीत ही नहीं होता है अपितु नृत्य भी किया जाता है। नारियाँ सुआ गीत गाती हुई नृत्य भी करती हैं, जिसे सुआ नृत्य कहा जाता है। जिस तरह कबीर के पदों में प्रयुक्त हंसा को छत्तीसगढ़ में आत्मा का प्रतीक माना जाता है, उसी तरह सुआ भी आत्मा का प्रतीक माना जाता है।

दीपावली के अवसर पर गाँव-नगर में विवाहित और अविवाहित नारियों की छोटी-छोटी टोलियाँ सुआ नृत्य करती हैं। सुआ नृत्य की टोलियाँ झुक-झुककर, झूम-झूमकर ताली बजाते गाती और नाचती हैं। नृत्य करती नारियाँ जब दाहिनी ओर झुकती हुई ताली बजाती हैं, तो अपना बायाँ पैर कुछ उठा लेती हैं। इसी तरह जब वे बायीं ओर झुकती हुई ताली बजाती हैं, तो अपना दाहिना पैर उठाती हैं। यह क्रिया नृत्य में निरंतर चलते रहती है। गृह स्वामी सुआ नर्तन टोली को धन-धान्य देकर सम्मानित करते हैं। सुआ गीत-नृत्य को देखने वाले दर्शक भाव-विभोर हो जाते हैं।

सुआ गीत गाते समय महिलाएँ मंडलाकार होकर नृत्य भी करती हैं। मध्य में बाँस की टोकरी में धान या चावल रखकर उसके ऊपर सुबह अर्थात मिट्टी के तोता की प्रतिमा रखते हैं। सुआ गीत-नृत्य करती हुई नारियाँ तालियाँ बजाती हैं। छोटे-छोटे डंडों को भी बजाती हैं। सुआ गीत गाने वाली महिलाओं में से कुछ महिलाएँ सुआ गीत की कुछ पंक्तियाँ गाती हैं, जिसे अन्य महिलाएँ दोहराती हैं। इस तरह गीत गाते हुए वृत्ताकार में महिलाएँ नृत्य करती हैं, जिसे सुआ नृत्य के नाम से जाना जाता है।

सुआ गीत में नारी हृदय के विभिन्न भावों को अभिव्यक्त किया जाता है। विशेषत: नारी की पीड़ा को सुआ गीत में स्वर दिया जाता है। इसमें नारी जीवन का दुःख-दर्द, आंतरिक पीड़ा सुआ गीत में समाहित होकर स्वरित होता है। गीत के बोल प्रायः 'तरी हरी नाना, नाना सुआ हो' से प्रारंभ होता है। सुआ गीत के बोल-

"तरी हरी नाना मोर नाह ना ना रे सुवा मोर
के तिरिया जनम झन देय,
तिरिया जनम मोर गउ के बरोबर रे सुवना
जहां रे पठोय तिंहा जाय, आ रे सुवना..."

सुआ गीत में केवल नारी की दुःख और पीड़ा का ही स्वर नहीं होता है, अपितु घर-गृहस्थी, खेती-किसानी, लोक-व्यवहार, वन-पर्वत, साज-श्रृंगार, राग-द्वेष, सुख-दुःख, न्याय-अन्याय, धर्म-कर्म, रीति-रिवाज, अमीरी-गरीबी, देश-समाज, जीव-जंतु, सजीव-निर्जीव जैसे अनेकानेक विषयों पर आधारित सुआ गीत प्रचलन में हैं। सुआ गीतों में प्रश्न भी होते हैं, वहीं उनके उत्तर भी गीत के बोल में समाए रहते हैं।

किसी कन्या का जब पहले-पहल विवाह हुआ रहता है। उसे पहली बार ससुराल जाना होता है। इस क्रिया को गौना या गवन कहा जाता है। अपने पिता के घर को छोड़कर पति के घर जाना निश्चित रूप से किसी अबोध नव विवाहिता के लिए अनेक संशय उत्पन्न करने वाला होता है।

उसके मन में अनेक तरह के प्रश्न उपस्थित होते हैं वह अपने इन प्रश्नों को सुआ गीत के माध्यम से व्यक्त करती हैं, साथ में सखी सहेलियाँ उनके प्रश्नों के उत्तर गीत के बोल के माध्यम से ही देती हैं। प्रथम गवन के समय नारी के मन में किस तरह के प्रश्न उपस्थित होते हैं, उनके उत्तर किस तरह से दिए जाते हैं, इसे छत्तीसगढ़ी सुआ गीत में इस तरह पिरोया गया है-

“पहिली गवन के मोला डेहरी बैठाए,
नरे सुआ हो छोड़ के चले बनिजार,
काकर सन खेलहूँ, काकर सन खाहूँ,
काला रखौं मन बाँध, नरे सुवाहो,
छोड़ के चले बनिजार।
खेलते ननद सन, सास सन खाबे,
छोटका देवर मन बाँध, नरे सुवा हो,
छोड़ के चले बनिजार।
पिवरा पाती सन सासे डोकरिया, ननद पठोहूँ ससुराल,
छोटका देवरा मोर बेटवा सरीके, कइसे रखों मन बाँध
नरे सुवा हो, छोड़ के चले बनिजार।
तोर अंगना म चंवरा बंधा ले
कि तुलसा ला देबे लगाए
नित-नित छुइबे नित-नित लीपबे
कि नित दिन दियना जलाय
तुलसा के पेड़ हरिहर-हरिहर
कि मोर नायहक करथे बनिजार
जब तुलसा के पेड़ झुरमुर जाही,
कि मोर नायक गए रण जूझ।”

नारी पहले पहल गौना पश्चात पतिगृह आई है, और पति काम में दूसरी जगह चला जाता है। तब नव विवाहिता नारी पति बिना किसी के साथ खेलने, खाने, मन बहलाने के लिए व्याकुल हो जाती है। उसके व्याकुल मन को शांत करने के लिए ननद के साथ खेलने, सास के साथ खाने, छोटे देवर साथ मन बहलाने की बात सखियों द्वारा कहा जा रहा है। नवविवाहिता कहती है कि सास बूढ़ी हो गई है, ननद ससुराल चली जाएगी, छोटा देवर बेटा समान है, ऐसे में पति बिना मैं कैसे अपने मन को बहलाऊगी? सखियाँ कहती हैं आँगन में चबूतरा बना लेना, उसमें तुलसी लगा देना, नित्य उसकी सेवा करना, दीप जलाना। तुलसी का पौधा जब हरा-हरा रहेगा तुम्हारा पति तुमको याद करता रहेगा, किंतु यदि तुलसी मुरझा गया तो तेरा पति विमुख हो जाएगा।

रामायण, महाभारत, पुराण के विविध कथा प्रसंगों सहित राजा हरिश्चंद्र, विक्रमादित्य, मोरध्वज, भारतीय स्वतंत्रता संग्राम आदि के प्रसंगों को कथागीत के रूप में सुआ गीतों में गाने परंपरा है। रामायण कथा अनुसार वनवास काल में राम जब पंचवटी में वास कर रहे थे। एक दिन राम को स्वर्ण मृग के पीछे जाना पड़ा। सहायता के लिए लक्ष्मण को भी जाना पड़ा। सीता कुटिया में अकेली रह गई थी। तब मायावी रावण योगी का रूप धर कर आया और सीता को हरण कर लेता है। इस कथा प्रसंग को सुआगीत में इस तरह से “पिरोकर गाया जाता है-

तरी हरी नाना, मोर नाह ना रे नाना
मंय का जानेंव, मंय का करंव,
मोर राम नइ हे ओ,
मोर लछिमन नइ हे ओ,
अब सीता ल लेगथे लंका के रावन,
मंय का करंव,
जोगी के रूप धरे निसाचर,
दे भिच्छा मोहि माई,
लेकर भिच्छा अंगन म ठाढ़े ओ
रथ म लिए बिठाए
मंय का करंव...”

सुआ गीतों में नारी की जिस पीड़ा का स्वर समाहित जान पड़ता है। वह मध्ययुगीन नारी की पीड़ा है। मध्य युग में नारी जीवन नारकीय हो गया था। उस समय की नारियों की पीड़ा सुआ गीतों में करुणा बन कर समाहित हो गई। सुआ गीतों में केवल शब्द ही नहीं वरन इतिहास समाहित होता है। अमृता और कुलवंतिन जैसी सुआ गीत गायिकाओं का नाम अत्यंत आदर से लिया जाता है।

निष्कर्ष- लोकगीतों में सहज संप्रेषणीयता होती है। यह किसी व्यक्ति विशेष की न होकर समूह की संपत्ति होती है। लोगों की मानसिकता की अभिव्यक्ति इन गीतों में होती है। इनमें केवल विचारों का प्रवाह ही नहीं होता है अपितु ये लोकरंजन के अनुपम साधन होते हैं। लोकगीतों के कारण लोकजीवन सहज और सरल होता है। छत्तीसगढ़ी सुआ गीत में सुख और दु:ख दोनों का सामाजीकरण देखने को मिलता है। लोकसंस्कृति में सादगी होती है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य के हृदय के तारों को झंकृत करने में यह समर्थ होती है।

संदर्भ-ग्रन्थ सूची-

- हिंदी 10वीं. रायपुर राज्य शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद छत्तीसगढ़ संस्करण 2017-18.
- यदु, जीवन. छत्तीसगढ़ी लोकगीत, हिंदी कक्षा 9. रायपुर : राज्य शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद छत्तीसगढ़. संस्करण : 2018-19.
- मिश्र, अशोक. चौमासा. आलेख- वर्मा, रामकुमार. छत्तीसगढ़ी सुआ गीत. भोपाल : आदिवासी लोककला एवं बोली विकास अकादमी मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्. संस्करण : मार्च-जून, 2013.
- नायडू, हनुमंत. छत्तीसगढ़ी लोक-गीत. नागपुर : विश्व भारती प्रकाशन, संस्करण: 2011.
- नायडू, हनुमंत. छत्तीसगढ़ी लोक-गीत. नागपुर : विश्व भारती प्रकाशन, संस्करण: 2011.
- छत्तीसगढ़ भारती. कक्षा 7, रायपुर : राज्य शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद छत्तीसगढ़, संस्करण 2020-21.
- नायडू, हनुमंत. छत्तीसगढ़ी लोक-गीत. नागपुर : विश्व भारती प्रकाशन, संस्करण: 2011.
- छत्तीसगढ़ भारती कक्षा 7, रायपुर राज्य शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद छत्तीसगढ़, संस्करण : 2020-21.

डॉ. लूनेश कुमार वर्मा
मोबाइल नंबर- 8109249517
म.नं. 3349(रामालय) वार्ड- 61
रावतपुरा कालोनी फेस-01
मठपुरैना. पोस्ट- सुंदर नगर
जिला- रायपुर (छत्तीसगढ़)
पिन 492001
ई मेल- luneshverma@gmail.com

देव-कथाओं की भाषा

डॉ. आलोक कुमार सिंह

अदृश्य का शब्द और दृश्य का स्वर

मानव अस्तित्व की अभिव्यक्ति दो परस्पर संबद्ध स्तरों में होती है एक ओर अनुभव से परे स्थित अमूर्त, आध्यात्मिक और व्यापक सत्ता का स्तर तथा दूसरी ओर मूर्त, दैनिक और सामाजिक जीवन का स्तर। इन दोनों स्तरों को अर्थ प्रदान करने, व्यवस्थित करने और संप्रेषित करने का प्रमुख माध्यम भाषा है। दैवीय आख्यान अमूर्त सत्ता को नाम, रूप और संरचना प्रदान कर ब्रह्मांडीय व्यवस्था को कथात्मक रूप में प्रस्तुत करते हैं, जबकि लोक साहित्य सामाजिक अनुभवों, सामूहिक स्मृतियों और जीवन-संघर्षों की भाषिक अभिव्यक्ति के रूप में उभरता है। यह अध्ययन इन दोनों अभिव्यक्तियों के बीच निहित अंतर्निहित भाषिक-सांस्कृतिक एकत्व की पड़ताल करता है और यह प्रतिपादित करता है कि समान भाषाई संरचनाएँ, संज्ञानात्मक प्रक्रियाएँ और सामाजिक व्यवस्थाएँ ही देवकथाओं तथा लोक परंपराओं को जन्म देती हैं। सैद्धांतिक रूप से यह शोध संरचनात्मक एवं संज्ञानात्मक भाषाविज्ञान, सिमियॉटिक्स तथा सामाजिक भाषाविज्ञान के सिद्धांतों पर आधारित है, जिनके माध्यम से यह स्पष्ट किया गया है कि दैवीय और लौकिक अभिव्यक्तियाँ 'शब्दब्रह्म' की एक ही सतत भाषिक प्रक्रिया के परस्पर पूरक आयाम हैं।

भाषा के स्तर और अभिव्यक्ति के क्रम: परा वाक् से लोक वाचा तक

भर्तृहरि द्वारा प्रतिपादित वाक्-सिद्धांत भाषा की उत्पत्ति, विकास और अभिव्यक्ति को समझने के लिए एक समग्र दार्शनिक एवं भाषावैज्ञानिक ढाँचा प्रस्तुत करता है। परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी ये चार स्तर देवकथाओं और लोक अभिव्यक्तियों के बीच विद्यमान अंतर्संबंध को एक सतत प्रक्रिया के रूप में स्पष्ट करते हैं। इस सिद्धांत के माध्यम से यह समझा जा सकता है कि अमूर्त चेतना किस प्रकार क्रमशः संरचित अर्थ, प्रतीक और अंततः सामाजिक-सांस्कृतिक भाषा में रूपांतरित होती है।

परा वाक् को शब्दब्रह्म की अवस्था माना गया है, जहाँ भाषा अव्यक्त, निराकार और संभावनात्मक रूप में विद्यमान रहती है। यह स्तर दार्शनिक दृष्टि से निर्गुण ब्रह्म के समकक्ष है, जहाँ न देवताओं का पृथक अस्तित्व है और न ही लौकिक सामाजिक संरचनाएँ। यहाँ भाषा और अर्थ के भेद का अभी उदय नहीं हुआ है; केवल चेतना की समग्र संभावना निहित रहती है। इसके पश्चात् पश्यन्ती वाक् का स्तर आता है, जहाँ चेतना में विचारों के अविभाज्य बीज प्रस्फुटित होते हैं। दैवीय परिप्रेक्ष्य में यह देव-वर्गों के उदय का चरण है, जैसे आदित्य, वसु और रुद्र, जो अभी व्यक्तित्व नहीं, बल्कि अवधारणात्मक श्रेणियाँ हैं। इसी प्रकार लोक संदर्भ में यह सामूहिक चेतना में निहित अव्यक्त भावों, अनुभवों और विषयों का स्तर है, जो अभी भाषिक रूप ग्रहण नहीं कर पाए हैं।

मध्यमा वाक् विचार के आंतरिक विभेदन और संरचनात्मक स्पष्टता का स्तर है। देवकथाओं में इसी स्तर पर देवता विशिष्ट नाम और गुणों के साथ मानसिक रूप से प्रतिष्ठित होते हैं, जैसे अग्नि, इन्द्र और वरुण। यह ऋग्वैदिक परंपरा का प्रतिनिधि चरण है, जहाँ देवताओं का अस्तित्व मुख्यतः मंत्रात्मक आह्वान तक सीमित रहता है। लोक परंपरा में यह वह अवस्था है, जहाँ कथानक, गीतात्मक भाव और रूपक सामूहिक चेतना में आकार ग्रहण करते हैं, किंतु अभी सार्वजनिक अभिव्यक्ति में नहीं आए होते।

वैखरी वाक् भाषा की मूर्त, उच्चरित और सामाजिक अवस्था है। दैवीय संदर्भ में यह पौराणिक युग का सूचक है, जहाँ देवताओं के रूप, आयुध, वाहन, पारिवारिक संबंध और मंदिरों की मूर्तियाँ विकसित होती हैं। लोक संदर्भ में यही स्तर लोकगीतों, कथाओं, लोकोक्तियों और नृत्य-परंपराओं के रूप में प्रकट होता है। इस अवस्था में भाषा पूर्णतः संवेदी, संगीतमय और सामुदायिक स्वरूप ग्रहण कर लेती है। इस प्रकार, वाक् के ये चार स्तर देव और लोक अभिव्यक्तियों को जोड़ने वाली एक अविच्छिन्न भाषिक-सांस्कृतिक यात्रा को रेखांकित करते हैं।

ध्वनि का संसार : बीजाक्षर से लोक-ताल तक

भारतीय भाषिक एवं सांस्कृतिक परंपरा में ध्वनि को केवल संचार का माध्यम नहीं, बल्कि अर्थ, चेतना और अनुभूति का मूल तत्त्व माना गया है। दैवीय और लौकिक दोनों ही अभिव्यक्तियों में ध्वनि एक केंद्रीय भूमिका निभाती है, यद्यपि उसके रूप, प्रयोजन और सामाजिक संदर्भ भिन्न होते हैं। बीजाक्षरों से लेकर लोकगीतों की लय और ताल तक, ध्वनि की यह यात्रा भाषा के सूक्ष्मतम स्तर से उसके सामुदायिक और व्यवहारिक विस्तार को रेखांकित करती है। दैवीय परंपरा में मंत्र और बीजाक्षर ध्वनि-तत्त्व के सर्वाधिक संघनित रूप हैं। 'ॐ', 'ह्रीं', 'क्लीं' जैसे बीजाक्षरों को देवता के सार का ध्वन्यात्मक प्रतीक माना जाता है। ये ध्वनियाँ किसी वर्णनात्मक अर्थ की अपेक्षा अमूर्त ऊर्जा और आध्यात्मिक शक्ति की संवाहक होती हैं। मंत्र-जाप की प्रक्रिया ध्वनि, चेतना और अर्थ के बीच तादात्म्य स्थापित करने का साधन है, जिसमें भाषा अपने सूक्ष्मतम स्तर पर कार्य करती है। इस स्तर पर ध्वनि स्वयं अर्थ का स्थान ले लेती है और भाषिक अभिव्यक्ति अनुभूति-प्रधान बन जाती है।

इसके विपरीत, लोक भाषा में ध्वनि उसी संघनित तत्त्व का विस्तार और सामाजिक रूपांतरण प्रस्तुत करती है। लोक साहित्य में अनुकरणात्मक ध्वनियों का व्यापक प्रयोग मिलता है, जैसे 'कड़क-कड़क' या 'झन-झन', जो प्रकृति और दैनिक जीवन की ध्वनियों का सीधा भाषिक अनुवाद है। ये ध्वनियाँ अनुभव को तात्कालिकता और सजीवता प्रदान करती हैं। इसके साथ ही, लोकगीतों में लय और ताल का विशेष महत्त्व है, जो भावों की तीव्रता को बढ़ाने के साथ-साथ स्मृति और मौखिक परंपरा के संरक्षण में सहायक होती है। इस दृष्टि से लय लोक साहित्य की एक प्रकार की 'सांस्कृतिक व्याकरण' के रूप में कार्य करती है। लोक भाषाओं में स्वर-विचलन और मानक उच्चारण से भिन्न ध्वन्यात्मक रूप भाषा के ऐतिहासिक विकास और क्षेत्रीय पहचान के संकेतक हैं। ये विचलन केवल भाषिक भिन्नता नहीं, बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक अस्मिता के सूचक भी हैं। इस प्रकार, बीजाक्षर और लोक-ध्वनि के बीच का संबंध सार और विस्तार का संबंध है जहाँ बीजाक्षर ध्वनि के आध्यात्मिक मूल को अभिव्यक्त करते हैं, वहीं लोक-ताल उस मूल का सामाजिक और व्यावहारिक अनुप्रयोग प्रस्तुत करता है। मंत्र और लोकगीत, दोनों ही ध्वनि की प्रभावशीलता और सृजनात्मक शक्ति में निहित विश्वास को साझा करते हैं।

शब्द की यात्रा : व्युत्पत्ति से लोकव्युत्पत्ति तक

भाषा में शब्दों की उत्पत्ति और उनके अर्थ-विकास की प्रक्रिया मानव संज्ञान और सांस्कृतिक अनुभव से गहरे रूप में जुड़ी हुई है। भारतीय भाषिक परंपरा में यह प्रक्रिया दो प्रमुख स्तरों पर स्पष्ट रूप से दिखाई देती है

एक ओर देवताओं के नामकरण में निहित दार्शनिक और व्युत्पत्तिगत संरचना, तथा दूसरी ओर लोकभाषा में विकसित होने वाली लोक-व्युत्पत्ति, जो अनुभव और व्यवहार पर आधारित होती है। ये दोनों प्रक्रियाएँ वास्तविकता को नाम देने, वर्गीकृत करने और अर्थपूर्ण बनाने की मानवीय आवश्यकता की पूरक अभिव्यक्तियाँ हैं।

देवताओं के नाम प्रायः प्रकृति, गुण और क्रिया से विकसित हुए हैं। वैदिक परंपरा में अग्नि, इन्द्र और वायु जैसे नाम प्राकृतिक घटनाओं और गतियों से व्युत्पन्न हैं, जहाँ देवता किसी भौतिक शक्ति के सार-तत्त्व का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसी प्रकार शिव और विष्णु जैसे नाम मूलतः गुणसूचक विशेषण थे, जो कालांतर में संज्ञा के रूप में स्थिर हो गए। यह विशेषण से संज्ञा की प्रक्रिया अमूर्त गुणों को स्थायी सांस्कृतिक प्रतीकों में रूपांतरित करती है। इसके अतिरिक्त सवितृ और पूषन जैसे देव-नाम क्रिया-धातुओं से निर्मित हैं, जहाँ देवता किसी विशिष्ट क्रिया के कर्ता के रूप में प्रतिष्ठित होते हैं। इस प्रकार देव-नामकरण एक ऐसी व्युत्पत्तिगत प्रणाली को दर्शाता है, जिसमें भाषा दार्शनिक अमूर्तन और सार्वभौमिक अर्थ-निर्माण का माध्यम बनती है।

इसके विपरीत, लोकभाषा में शब्दों का निर्माण स्थानीय अनुभव, सामाजिक व्यवहार और रूपकात्मक सृजन पर आधारित होता है। कृषि, पशुपालन, शिल्प और प्रकृति से संबद्ध अनेक शब्द मानक भाषा में स्थान न पाकर भी समुदाय-विशेष के जीवनानुभवों को सटीक रूप से अभिव्यक्त करते हैं। लोकभाषा में रूपकात्मक समास, जैसे 'आँख-मिचौनी' या 'चिड़ियाखाना', कल्पनाशीलता और प्रत्यक्ष अनुभव के बीच सहज संबंध स्थापित करते हैं। इसी क्रम में लोक-व्युत्पत्ति की प्रक्रिया भी महत्त्वपूर्ण है, जिसमें शब्दों के अर्थ लोकबुद्धि द्वारा पुनर्व्याख्यायित किए जाते हैं, भले ही वे शास्त्रीय व्युत्पत्ति से भिन्न हों। अतः व्युत्पत्ति और लोक-व्युत्पत्ति दोनों ही भाषा की सृजनात्मक क्षमता को रेखांकित करती हैं एक वैश्विक और दार्शनिक स्तर पर, दूसरी स्थानीय और व्यावहारिक स्तर पर। दोनों मिलकर भाषा को जीवंत, अर्थपूर्ण और सांस्कृतिक रूप से समृद्ध बनाती हैं।

व्याकरणिक संरचनाओं का सामाजिक-सांस्कृतिक प्रक्षेपण

भाषा की व्याकरणिक संरचनाएँ केवल औपचारिक नियमों का समुच्चय नहीं हैं, बल्कि वे सामाजिक, सांस्कृतिक और वैचारिक संरचनाओं के प्रतिबिंब के रूप में भी कार्य करती हैं। भारतीय भाषिक परंपरा में लिंग, वचन और विभक्ति जैसी श्रेणियाँ दैवीय आख्यानों से लेकर लोक साहित्य तक एक निरंतर सामाजिक अर्थ-विस्तार को अभिव्यक्त करती हैं। संस्कृत के तीन लिंगों पुंलिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग का प्रतीकात्मक प्रक्षेपण देव-जगत में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। ब्रह्मा, लक्ष्मी और अर्धनारीश्वर जैसे दैवीय रूप लिंग को केवल व्याकरणिक नहीं, बल्कि दार्शनिक और सांस्कृतिक श्रेणी के रूप में स्थापित करते हैं। लोक भाषाओं में लिंग-प्रयोग सामाजिक भूमिकाओं और प्रकृति के प्रति मानवीय दृष्टिकोण को प्रकट करता है, जैसे नदियों को 'माँ' के रूप में संबोधित करना।

वचन-व्यवस्था भी दैवीय और लौकिक दोनों संदर्भों में अर्थ-निर्माण की महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। देवकथाओं में 'इन्द्र' जैसे एकवचन रूप विशिष्ट सत्ता और केंद्रीयता को दर्शाते हैं, जबकि 'मरुतः' जैसे बहुवचन रूप समूहगत शक्ति और सामूहिक क्रियाशीलता का संकेत देते हैं। लोक साहित्य में बहुवचन का प्रयोग सामूहिक अनुभव, साझी स्मृति और सामुदायिक पहचान को सुदृढ़ करता है।

इसी प्रकार विभक्ति-प्रणाली देवकथाओं में देवताओं को कर्ता, कर्म और करण जैसी विभिन्न कथात्मक भूमिकाओं में स्थापित करती है। लोककथाओं में यही भूमिकाएँ सामान्य पात्रों द्वारा निभाई जाती हैं, जिससे सामाजिक संबंधों और भूमिकाओं की संरचना स्पष्ट होती है। इसके साथ ही वाक्य-विन्यास में भी अंतर दृष्टिगोचर होता है। देव-आख्यानों में जटिल, आलंकारिक और घोषणात्मक वाक्य संरचनाएँ प्रचलित हैं, जबकि लोक-संवाद में सरल, संक्षिप्त और संवादात्मक वाक्य मौखिकता की प्रधानता को दर्शाते हैं।

अर्थ का संस्कृति-निर्मित संसार : रूपक, प्रतीक और मुहावरे

भाषा में अर्थ का निर्माण केवल शब्दार्थ तक सीमित नहीं होता, बल्कि वह व्यापक सांस्कृतिक संदर्भों, सामाजिक अनुभवों और सामूहिक स्मृति से निरंतर रूपांतरित होता रहता है। इस प्रक्रिया में रूपक, प्रतीक और मुहावरे अर्थ-निर्माण के प्रमुख उपकरण के रूप में कार्य करते हैं। दैवीय और लौकिक दोनों प्रकार की अभिव्यक्तियों में ये तत्व सामाजिक संरचनाओं और सांस्कृतिक मूल्यों को भाषिक रूप प्रदान करते हैं।

दैवीय आख्यानों में रूपकों का प्रयोग प्रायः सामाजिक और राजनीतिक संरचनाओं के आदर्शीकरण हेतु किया जाता है। उदाहरणतः इन्द्र का 'देवताओं के राजा' के रूप में चित्रण पारंपरिक सामंती शासन व्यवस्था का रूपक है, जिसमें सत्ता का केंद्रीकरण और पदानुक्रम स्पष्ट होता है। इसी प्रकार वरुण और मित्र को 'न्याय एवं संधि के देवता' के रूप में प्रतिष्ठित करना सामाजिक न्याय, अनुशासन और सामूहिक सहमति जैसे मूल्यों का दैवीय प्रतीकीकरण है। इन रूपकों के माध्यम से सामाजिक आदर्शों को ब्रह्मांडीय स्तर पर वैधता प्रदान की जाती है।

इसके विपरीत, लोकभाषा में रूपक और मुहावरे दैनिक जीवन, प्रकृति और व्यवहारिक अनुभवों से उत्पन्न होते हैं। "चेहरा चाँद-सा" जैसे प्रयोग सौंदर्य को प्राकृतिक बिंबों से जोड़ते हैं, जबकि "ऊँट के मुँह में जीरा" जैसे मुहावरे अपर्याप्तता की स्थिति को व्यावहारिक और सहज ढंग से अभिव्यक्त करते हैं। लोकोक्तियाँ, जैसे "अंधेर नगरी…", सामूहिक बुद्धि और सामाजिक आलोचना का सघन रूप प्रस्तुत करती हैं। इस प्रकार दैवीय और लौकिक दोनों ही प्रकार के रूपक संस्कृति-निर्देशित अर्थ-निर्माण की प्रक्रिया को दर्शाते हैं। जहाँ दैवीय रूपक सार्वभौमिक सामाजिक आदर्शों को संप्रेषित करते हैं, वहीं लोक रूपक दैनिक अनुभवों और सामाजिक यथार्थ को भाषिक स्पष्टता प्रदान करते हैं।

प्रयोगविज्ञान : संदर्भ, अनुष्ठान और सामुदायिक सहभागिता

भाषा का प्रयोगविज्ञान यह स्पष्ट करता है कि भाषिक अभिव्यक्तियों का अर्थ केवल शब्दों में निहित नहीं होता, बल्कि उनके सामाजिक, सांस्कृतिक और अनुष्ठानिक संदर्भों से निर्मित होता है। दैवीय परंपरा में देव-आख्यानों का प्रयोग विशिष्ट अनुष्ठानिक परिस्थितियों में किया जाता है, जैसे यज्ञ में वैदिक ऋचाओं का उच्चारण अथवा पूजा में पौराणिक कथाओं का पाठ। इस प्रकार का भाषिक प्रयोग लक्ष्य-केंद्रित, नियमबद्ध और शास्त्रसम्मत होता है, जहाँ भाषा आध्यात्मिक उद्देश्य की प्राप्ति का साधन बनती है। इसके विपरीत, लोक साहित्य का प्रयोग जीवनचक्र से संबद्ध लौकिक अनुष्ठानों में होता है। जन्म, विवाह, मृत्यु और कृषि-चक्र से जुड़े अवसरों पर गाए जाने वाले लोकगीत और कथाएँ भाषा के सहज, सहभागी और भावप्रधान स्वरूप को प्रकट करती हैं। इन अभिव्यक्तियों में सामुदायिक सहभागिता और साझा अनुभव केंद्रीय भूमिका निभाते हैं। इस प्रकार दैवीय और लौकिक दोनों ही संदर्भों में भाषा एक क्रिया-कलाप के रूप में प्रयुक्त होती है, जिसका उद्देश्य मात्र संचार नहीं, बल्कि सामाजिक और आध्यात्मिक लक्ष्यों की सिद्धि होता है।

शक्ति, पहचान और विरोध की भाषा : दोनों क्षेत्रों में अंतर्पाठ

भाषा केवल सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं, बल्कि शक्ति-संबंधों, सामाजिक पहचान और प्रतिरोध की संरचनाओं को निर्मित एवं व्यक्त करने का भी एक प्रभावी उपकरण है। दैवीय आख्यानों और लोक साहित्य दोनों में शक्ति की भाषिक संरचनाएँ भिन्न रूपों में उपस्थित हैं, किंतु उनके बीच एक अंतर्पाठीय संबंध स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। देवकथाओं में देवमंडल की पदानुक्रमिक व्यवस्था जिसमें इन्द्र जैसे देव शीर्ष स्थान पर प्रतिष्ठित हैं समकालीन सामाजिक शक्ति-संरचनाओं का प्रतीकात्मक प्रतिबिंब प्रस्तुत करती है और उन्हें वैधता प्रदान करती है। इस प्रकार दैवीय आख्यान सामाजिक पदानुक्रम और सत्ता-संतुलन को सांस्कृतिक स्तर पर स्थिर करते हैं। इसके साथ ही, देव-जगत के भीतर प्रतिरोध की संभावनाएँ भी निहित हैं। शिव जैसे देवता, जिन्हें वर्ण-व्यवस्था और संस्थागत नियमों से परे माना जाता है, प्रचलित सामाजिक संरचनाओं के वैकल्पिक विमर्श प्रस्तुत करते हैं। इसी प्रकार अनेक शाक्त परंपराओं तथा दलित-आदिवासी लोक देवताओं में स्थापित देवी-देवता मुख्यधारा की दैवीय सत्ता-रचना को चुनौती देते हुए सांस्कृतिक प्रतिरोध के केंद्र बनते हैं।

लोक साहित्य में प्रतिरोध की यह भाषा अधिक प्रत्यक्ष और स्पष्ट रूप में प्रकट होती है। लोकगीत और कथाएँ सामंती शोषण, जातिगत भेदभाव और लैंगिक असमानताओं के विरुद्ध सामूहिक असंतोष को स्वर देती हैं। विशेषतः दलित और आदिवासी लोक साहित्य में प्रतिरोध की चेतना भाषा के चयन, प्रतीकों और कथात्मक संरचनाओं में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। इसके अतिरिक्त, लोकभाषा की सूक्ष्म भाषिक विशेषताएँ जैसे उच्चारण, शब्दावली और रूपक क्षेत्रीय और सामुदायिक पहचान के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। इस प्रकार दैवीय और लौकिक दोनों क्षेत्रों में भाषा शक्ति, पहचान और विरोध के अंतर्पाठ को रेखांकित करती है।

निष्कर्ष : एक अविभाज्य भाषाई-सांस्कृतिक सातत्य

यह अध्ययन यह प्रतिपादित करता है कि देवकथाएँ और लोक साहित्य भाषा की एक ही संज्ञानात्मक–सांस्कृतिक प्रक्रिया के दो परस्पर पूरक आयाम हैं। दोनों मानवीय भाषिक क्षमता की उपज हैं, जो भिन्न सामाजिक और वैचारिक संदर्भों में भिन्न रूप ग्रहण करती है। देवकथाएँ भाषा के उस सैद्धांतिक, संरचनात्मक और सार्वभौमिक पक्ष को व्यक्त करती हैं, जिसके माध्यम से मानव अमूर्त, असीम और रहस्यमय अनुभवों को प्रतीकात्मक रूप में व्यवस्थित करता है। इसके विपरीत, लोक साहित्य भाषा के व्यावहारिक, लचीले और अनुभवाधारित स्वरूप को सामने लाता है, जहाँ दैनिक जीवन, सामूहिक स्मृति और सामाजिक संघर्षों को अभिव्यक्ति मिलती है। देव-जगत का विश्लेषण यह स्पष्ट करता है कि नामकरण, व्याकरणिक संबंध, रूपक-निर्माण और ध्वन्यात्मक प्रतीकवाद जैसी प्रक्रियाएँ मानव संज्ञान के विकास की सूचक हैं। देवता इस दृष्टि से किसी बाह्य सत्ता के प्रतिनिधि न होकर भाषा के भीतर निर्मित अर्थ-चिह्न हैं। दूसरी ओर, लोक साहित्य भाषा की सामाजिक गहराई, विविधता और सांस्कृतिक स्मृति को संजोए रखने का माध्यम है, जिसके द्वारा समुदाय अपने अनुभवों और इतिहास को पीढ़ी-दर-पीढ़ी संप्रेषित करता है। इस प्रकार, देवकथाएँ अर्थ को ऊर्ध्व दिशा में और लोक साहित्य उसे क्षैतिज विस्तार में विकसित करता है। 'शब्दब्रह्म' की अवधारणा इस एकत्व का दार्शनिक आधार प्रस्तुत करती है। निष्कर्षतः, यह शोध स्थापित करता है कि भाषा केवल संचार का साधन नहीं, बल्कि भारतीय सांस्कृतिक चेतना की केंद्रीय धुरी है, जो अमूर्त और मूर्त, दैवीय और लौकिक अनुभवों को एक सतत सांस्कृतिक संरचना में एकीकृत करती है।

ग्रंथ सूची

- भागवत, दुर्गा। (2008)। लोकसाहित्य का अध्ययन। लोकभारती प्रकाशन।
- भर्तृहरि (व्याख्या: द्विवेदी, कपिल देव)। (2015)। वाक्यपदीय। चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
- शर्मा, रामविलास। (2003)। भारत की भाषा समस्या। राजकमल प्रकाशन।
- उपाध्याय, कृष्णदेव। (1992)। भारतीय लोकसाहित्य: एक अध्ययन। हिंदी प्रचारक संस्थान।
- मैथानी, पी. (संपा.)। (2010)। भारत की लोक संस्कृति। नेशनल बुक ट्रस्ट।
- नेशनल बुक ट्रस्ट। (विभिन्न वर्ष)। विभिन्न प्रदेशों के लोकगीत एवं लोककथा संग्रह (श्रृंखला)। नई दिल्ली।
- Bailey, F. G. (1963). Tribe, Caste, and Nation: A Study of Political Activity and Political Change in Highland Orissa. Manchester University Press.
- Campbell, J. (2008). The Hero with a Thousand Faces (3rd ed.). New World Library.
- Doniger, W. (2009). The Hindus: An Alternative History. Penguin Press.
- Hymes, D. (1974). Foundations in Sociolinguistics: An Ethnographic Approach. University of Pennsylvania Press.
- Lakoff, G., & Johnson, M. (2003). Metaphors We Live By (2nd ed.). University of Chicago Press.
- Levi-Strauss, C. (1978). The Raw and the Cooked: Introduction to a Science of Mythology (J. Weightman & D. Weightman, Trans.). Harper & Row.
- Muller, F. M. (1995). Lectures on the Science of Language. Longmans, Green.
- Ong, W. J. (2002). Orality and Literacy: The Technologizing of the Word (2nd ed.). Routledge.
- Staal, F. (1996). On the Meaning and Significance of Cultural Perspectives. In Ritual and Mantras: Rules Without Meaning. Motilal Banarsidass.

डॉ. आलोक कुमार सिंह
सहायक आचार्य
हिन्दी विभाग
माँ मंशा देवी महाविद्यालय, चंदौली

नृत्त और नृत्य की उत्पत्ति

डॉ. ओम प्रकाश लाल श्रीवास्तव

नृत्त और नृत्य परम्परागत संगीत एवं मनोरंजन के साधन हैं, जिनसे मानव को आत्मिक सुख प्राप्त होता है। इसकी उत्पत्ति के सन्दर्भ में ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी के महाकवि कालिदास ने बहुत महत्वपूर्ण जानकारी प्रदान की है। उन्होंने अपने नाटक ‘मालविकाग्निमित्र‘ में कहा है कि मुनि लोगों का कहना है कि ‘नाट्य’ तो देवताओं की आँखों को सुहाने वाला शान्त यज्ञ है (क्योंकि यह दृश्य और श्रव्य दोनों की श्रेणी में आता है)। स्वयं महादेव ने ही उमा से विवाह करके अपने शरीर में दो भाग कर लिए हैं - एक ताण्डव और दूसरा लास्य। इसमें सत्त्व, रज और तम तीनों गुण दिखलाये जाते हैं और अनेक रसों में लोगों के चरित्र भी दिखाई पड़ते हैं। इसीलिए अलग-अलग रुचि वाले लोगों के लिए प्रायः नाटक ही एक ऐसा उत्सव है, जिसमें सबको एक सा आनन्द प्राप्त होता है -

देवानात्रैगुण्योद्भवमत्रमिदमामनन्ति मुनयः शान्तं क्रतुं चाक्षुषं
रुद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरे स्वाबे विभक्तं द्विधा।
लोकचरितं नानारसं दृश्यते I
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्।।

भगवान शंकर ने अपने शरीर का दो भाग करके जो नृत्त किया, उसे ‘ताण्डव नृत्त‘ कहते हैं और पार्वती जी के नृत्य को ‘लास्य नृत्य‘ कहते हैं। इनकी उत्पत्ति ही अलग-अलग सन्दर्भों में हुई है। अतः उनकी विधा और प्रभाव भी एक दूसरे से भिन्न है। भगवान शिव के ‘ताण्डव नृत्त‘ के बारे में कहा गया है-

नृत्तावसाने नटराजराजो
ननादढक्कां नवपळचवारम्।
उद्धर्त्तुकामः सनकादिसिद्धा
नेतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम्।।

ताण्डव नृत्त के समय भगवान शिव ने अपना डमरू बजाया तो उससे चैदह सूत्रों की उत्पत्ति हुई और ये संस्कृत व्याकरण के महत्त्वपूर्ण सूत्र हैं, इसे ‘माहेश्वर सूत्र‘ भी कहा जाता है -

1. अ इ उ ण् 2. ऋ लृ क् 3. ए ओ ङ् 4. ऐ औ च् 5. ह य व र ट् 6. लण् 7. म ङ ण न म् 8. झ भ 9. घ ढ ध ष् 10. ज ब ग ड द श् 11. ख फ छ ठ थ च ट त व् 12. क प य् 13. श ष स र् 14. ह ल्

भगवान शिव के ‘ताण्डव नृत्य‘ से उत्पन्न ये चैदह सूत्र संस्कृत व्याकरण की दृष्टि से तो महत्त्वपूर्ण हैं ही, इन्हें विश्व की उत्पत्ति के साथ भी समायोजित किया जाता है। पहले सूत्र का पहला वर्ण ‘अ‘ और चौदहवें सूत्र का अन्तिम वर्ष ‘ल्‘ है, जिससे ‘अल्‘ अर्थात् अलम् = सम्पूर्ण होता है। शिव के ‘ताण्डव नृत्त‘ की घटना साहित्य के साथ-साथ पुरातत्व में इतनी महत्वपूर्ण हुई कि ‘शिव-ताण्डव‘ की मूर्तियाँ धातु एवं प्रस्तर में भी निर्मित की जाने लगी।

शिव के द्वारा अपने शरीर को दो भागों में बाँटने की घटना भी साहित्य के साथ-साथ पुरातत्व में भी देखने को मिलती है। अर्धनारीश्वर की मूर्तियाँ प्रस्तर में तो प्राप्त होती ही हैं, उनका अंकन रंग-चित्रों में भी विविध प्रकार से किया गया है।

शिव के ‘ताण्डव नृत्त‘ और पार्वती के ‘लास्य नृत्य‘ को साहित्यिक विवरणों में विशेष रूप से, व्याख्यायित किया गया है। उल्लेखनीय है कि आचार्य भरत मुनि के ‘नाट्यशास्त्र‘, आचार्य सारंगदेव के ‘संगीत रत्नाकर‘, आचार्य पाश्र्वदेव के ‘संगीत समयसार‘, पुण्डरीक विठ्ठल के ‘नत्र्तन निर्णय‘ आदि में ‘नृत्त‘, ‘नृत्य‘ और ‘नाट्य‘ की विशद् चर्चा की गयी है। इसी बीच आचार्य धनळजय ने अपने ग्रन्थ ‘दशरूपक‘ में भी ‘नृत्त‘ और ‘नृत्य‘ की बड़ी ही स्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत की है - ‘नृत्तं ताल लयाश्रयम्‘ अर्थात् ‘नृत्त‘ ताल और लय पर आधारित होता है, जब कि ‘नृत्य‘ भाव पर आधारित होता है - अन्यद् भावाश्रयं नृत्यम्। अतः इस परिभाषा के अनुसार ‘लोकनृत्त‘ नृत्त‘ के अन्तर्गत आता है और कथक आदि ‘नृत्य‘ के अन्तर्गत।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि भगवान शिव की ‘ताण्डव नृत्त‘ विशुद्ध रूप से ताल और लय पर आधारित ‘लोक नृत्त‘ है और भाव आदि पर आश्रित कथक आदि नृत्य ‘लास्य‘ के अन्तर्गत आता है। इन दोनों-‘नृत्त‘ और ‘नृत्य‘ के बारे में स्पष्ट है कि प्रकाश में ही होने चाहिए, चाहे दिन हो अथवा रात्रि। दिन में तो प्रकाश की स्वतः प्राकृतिक व्यवस्था होती है, किन्तु रात्रि में नर्तक के लिए प्रकाश की व्यवस्था आवश्यक है, भले ही दर्शक अंधकार में बैठ कर प्रकाश में किये जान वाले ‘नृत्त‘ अथवा ‘नृत्य‘ का आनन्द ले सकें। इस सन्दर्भ में ‘नृत्त‘/‘नृत्य‘ के लिए प्रकाश आवश्यक बताते हुए कलचुरि शासक पृथ्वीदेव द्वितीय कालीन कोनी प्रस्तर अभिलेख में ठीक ही कहा गया है4 -

कुर्वन्तु कीत्र्तन शतानि रणाबणेषु
मथ्नन्तु वैरिनिकरं धनमुत्सृजन्तु।
कालान्तरे तदखिलं प्रबलान्धकार
नृत्योपमं कविजनैरनिबद्धयमानम्।।

अर्थात् यदि कवियों द्वारा मनुष्यों के किये गये सत्कार्य, युद्ध में शत्रुओं पर विजय और ऐश्वर्य प्राप्ति आदि का वर्णन न किया जाय तो कालान्तर में वे प्रबल अन्धकार में किये गये नृत्य की भाँति लुप्त हो जायेंगे।

यह अद्भुत संयोग है कि भगवान शिव और पार्वती ‘नृत्त‘ और ‘नृत्य‘ (लास्य) के प्रवर्तक माने जाते हैं तो उनके पुत्र आदिदेव ‘गणेश‘ भी नृत्य के प्रति समर्पित हैं, जिनकी नृत्यरत प्रतिमाएँ अनेक पुरास्थलों से प्राप्त हुई हैं। इस सन्दर्भ में कंपिल (काम्पिल्य, दक्षिण पंचाल की राजधानी) से प्राप्त एवं राज्य संग्रहालय उत्तर प्रदेश, लखनऊ में सुरक्षित नृत्यरत गणेश की प्रतिमा सर्वथा सुन्दर एवं कलात्मक है -

सन्दर्भः

- श्रीवास्तव, ओम प्रकाश लाल: कालिदास की तिथिः ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी, जर्नल ऑफ गंगानाथ झा, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, जिल्द 54-55 (1998-99)
- कालिदास: मालविकाग्निमित्र, 1/4.
- धनळजय: दशरूपक, 1/8-9 के मध्य
- धनळजय: दशरूपक, 1/8-9 के मध्य
- मिराशी, वी.वी. : कार्पस् इन्स्क्रिप्शनम् इण्डिकेरम्, जिल्द 4

डॉ. ओम प्रकाश लाल श्रीवास्तव
रजिस्ट्रीकरण अधिकारी (से.नि.), पुरावशेष एवं बहुमूल्य कलाकृति
मोतीलाल नेहरू मार्गबेलवीडियर प्रेस कम्पाउण्ड,
प्रयागराज-211002, मो. 9125049410, 7355228322
मेल- oplalsivastava@gmail.com

लोक वाद्यों की उत्पत्ति की कथाएँ

संगीता सिंह

भारतीय संस्कृति में संगीत प्रमुख रूप से धर्म और आध्यात्म से जुड़ा हुआ है और संगीत पर ही वाद्य यंत्रो की नींव रखी गयी है। जैसे जैसे मानव सभ्यता का विकास हुआ उसी के साथ-साथ संगीत का भी विकसित रूप देखने को मिलता गया। मंदिरों और मठों से शुरू हुई इस यात्रा ने प्रभाती गायन और अष्टयाम की आराधना पद्धति से संगीत का खूब प्रचार-प्रसार किया। संगीत भक्ति एवं आराधना का प्रमुख बिन्दु बन गया। संगीत में सौन्दर्यात्मक एवं भावनात्मक गुणों के कारण मनुष्य ही नहीं अपितु सम्पूर्ण जीव जगत को सहज ही अपनी ओर आकर्षित करने की अपूर्व शक्ति विद्यमान है। प्राचीनकाल में जब मानव को स्वर के साथ-साथ लय का भी ज्ञान हुआ तथा जब उसने इनके प्रदर्शन हेतु प्रारंभ में कुछ लोक वाद्यों का आविष्कार किया, तभी उसने देखा कि गायन व नृत्य के साथ उन वाद्यों द्वारा सहयोग देने से उनमें विशेष सौन्दर्य उत्पन्न हो जाता है, किन्तु जब मनुष्य ने यह देखा कि गायन या नृत्य करते हुए उसके लिए एक से अधिक वाद्यों को स्वयं ही अपने साथ बजाना सुविधाजनक नहीं है, तो उसने इस कार्य के लिए अन्य व्यक्तियों की सहायता लेना आरम्भ कर दिया। बस यहीं से संगीत में गायन और नृत्य के साथ वाद्यों द्वारा संगत करने की परंपरा आरम्भ हुई।

पृथ्वी पर वाद्यों के प्रादुर्भाव के संबंध में एक अन्य स्रोत के अनुसार पूर्व काल में पृथ्वी पर इस प्रकार के कल्पवृक्ष थे। इनमें से एक का नाम तूर्यम था इस कल्पवृक्ष ने मनुष्य को चार प्रकार के वाद्य प्रदान किये-

- ततवाद्य- ततवाद्य वे हैं, जो तंत्रियों से या जिनमें तारों का उपयोग होता था एवं उन्हें बजाने के लिए उंगलियों का प्रयोग किया जाता था। जैसे - वीणा, तम्बूरा आदि।
- सुषिर वाद्य - सुषिर वाद्य फूंक मारकर बजाये जाते हैं। जैसे - बांसुरी या वेणु, शंख, श्रृंगी आदि।
- घन वाद्य - घन वाद्य वह है जो प्राय धातु या कास्ट से बनते हैं जिनमें ध्वनि आघात से उत्पन्न होती है जैसे - झाँझ, घंटा, करताल आदि।
- वितत या अवनद्ध – ये वाद्य प्रायः काष्ट या काठ के बने होते हैं जिसमें काष्ट का खोलनुमा गोल आकार होता है जिसपर चमड़ा मड़ दिया जाता है। इन्हें उंगलियों या डंडियो से आघात कर बजाया जाता है जैसे - डमरू, डफली या खंजरी, दुदुम्भी, ढोलक, मृदंग आदि इसी वर्ग के लोक वाद्य हैं।

मेरे शोध पत्र का विषय प्राचीन लोक वाद्य यंत्रो की उत्पत्ति की कथाएँ है इसलिए मैं खंजरी, रावणहत्ता, एवं तम्बूरे की उत्पति की कथाएँ एवं उनके प्रयोग पर अपनी बात रखना चाहूँगी।

खंजरी

खंजरी लोक वाद्य का प्रयोग प्रमुख रूप से नाथ, जोगी (सपेरा) समुदाय के लोंगो द्वारा किया जाता था। चूंकि सरकार ने उनके पारम्परिक व्यवसाय पर रोक लगा दी है एवं उसके लिए दंड विधान भी तय कर दिए हैं इसलिए सपेरा समुदाय के लोग अब द्वार द्वार जाकर मनोरंजन कर पैसा नहीं कमा पा रहे हैं। वर्तमान में सपेरा समुदाय के अधिकतर लोग दिहाड़ी मजदूरी ही कर रहे हैं। लेकिन इनके घरों में आज भी ज़ब कोई तीज त्यौहार, धार्मिक अनुष्ठान या भजन कीर्तन हो। ये लोग प्रमुख रूप से अपना पारम्परिक वाद्य यँत्र खंजरी जरूर बजाते हैं। और किसी कार्यक्रम विशेष जैसे नागपंचमी को ये महुअर (बीन) और खंजरी दोनों को सामूहिक रूप से बजाते हैं। और सबसे विशेष बात यह है कि अपने वाद्य यंत्रो का निर्माण भी स्वयं करते हैं।

खंजरी की उत्पत्ति

खंजरी की उत्पत्ति के सम्बन्ध में लोक मान्यता है कि खंजरी का सर्वप्रथम प्रयोग रामायण में मिलता है। कहा जाता है कि रामायण काल में जब राजा दशरथ शिकार पर निकले तो तालाब किनारे एक हिरन और हिरन का बच्चा पानी पी रहा था। उसी समय राजा दशरथ ने हिरण के बच्चे पर अपने तीर से निशाना साध दिया, तीर लगने के कारण हिरण के बच्चे ने उसी क्षण अपने प्राण त्याग दिए। राजा दशरथ जैसे ही उस हिरण के बच्चे को लेकर जाने लगे तो हिरण ने कहा कि तूने मेरे बच्चे को तो मार ही दिया है इसकी खाल ही मुझे दे जाओ ताकि मैं समझूंगी मेरा बच्चा अभी भी मेरे साथ है। उस पर राजा दशरथ ने कहा, नहीं इसकी खाल से हम खंजरी मड़वाएंगे जो हमारे पुत्र राम के राज्याभिषेक में बजाई जाएगी। इस पर उस हिरण ने क्रोधित होकर श्राप दिया कि जिस प्रकार तूने मेरे पुत्र को मुझसे अलग किया है उसी तरह एक दिन तू भी पुत्र के वियोग में व्याकुल होगा। इस तरह खंजरी भारतीय संस्कृति में सबसे प्राचीन लोक वाद्य मानी जाती है।

खंजरी की निर्माण प्रक्रिया

ये खंजरी बनाने के लिए कुम्भेर की लकड़ी या बीजा की लकड़ी का उपयोग करते हैं। जंगल से लकड़ी काटकर लाते हैं उसे करीब एक महीना सूखने के लिए छोड़ देते हैं सर्दियों के मौसम में कम से कम दो महीने सुखाया जाता है।

जब लकड़ी सूख जाती है तो न्याना और बसूला (औजार) से उसे बीच से कोलते हैं अर्थात उसे खोखला करते हैं। लकड़ी को छीलकर उसे गोलाकार दिया जाता है जिसकी परत एक से डेढ़ इंच रह जाती है। लकड़ी की ऊपरी सतह को चिकना करने के लिए लकड़ी को कांच या पत्थर की सहायता से घिसा जाता है। यह प्रक्रिया कम से कम आठ दिन तक चलती है।

इसके पश्चात् बकरे की सूखी खाल से मड़ा जाता है

मड़ी जाने वाली खाल

जिस खाल को इस्तेमाल किया जाता है उसे करीब एक महीने सुखाया जाता है उसके ऊपर लगे बालों को हटाया जाता है इसके बाद वह मड़ने योग्य हो जाती है। चिपकाने के लिए उड़द दाल और सिरसा एक प्रकार का चिकना पदार्थ या लोचदार पदार्थ उपयोग किया जाता है।

लेप बनाने के लिए उड़द दाल को रात में भिगोकर रख देते हैं कम से कम बारह घंटे के लिए रखते हैं ताकि पीसने में आसानी हो, फिर उसे

ISSN 3107-8583

सिल बट्टे से पीसते हैं पीसने के बाद उसमें सिरसा मिलाते हैं। इसके लकड़ी के खोल के चारों और गोलाई में लेप को लगाया जाता है इसके बाद उसके ऊपर खाल को चिपकाया जाता है।

लेप बनाने की एक अन्य विधि भी उनके द्वारा बतायी गयी। जिसमें मेथीदाने का उपयोग किया जाता है। मेथीदाने को भिगोकर रख देते हैं कुछ समय बाद उसे उबालकर उसे पीस लेते हैं यह लेप और भी ज्यादा मजबूत होता है मड़ने के लिए ऊपर से एक लोहे के तार का गोल आकार बनाकर उस पर कपड़ा लपेटकर उस मड़ी हुई खाल पर एकदम कसकर लगाया जाता है। खंजरी के स्वर को और अधिक मधुर स्वर देने के लिए लकड़ी के खोल के बीच तीन या चार जगह छेद कर उसमें घुंघरू या पीतल की पतली झाँझे डाली जाती है।

लोक वाद्य खंजरी के वादन के अवसर व नियम -

हर माह के अंधेरे पाख में आठे (कृष्ण पक्ष की अष्टमी) को भैरों पर चोला चढ़ाते हैं और भजन कीर्तन करते हैं। जब भैरों के कीर्तन में लोक वाद्य खंजरी को सोलहवीं मात्रा एवं पंचम स्वर में बजाते हैं। इस समय ये राग भैरवी बजाते हैं –

अरे जिओ रे अरे जिओ रे
लागो भृतहरि मेला नाच ले
जागो रे जागो रे
भैरों बाबा के दर्शन कर ले

नागपंचमी पर भारतीय घरों में लगभग सभी जातियों और समुदाय में नाग देवता के प्रतीकात्मक रूप से मनाया जाता है। ये नागपंचमी के दिन प्रातः नाग देवता को बुलाने के लिए महुअर और खंजरी बजाते हैं। नाग देवता के निकल आने पर उनके सामने दूध रखा जाता है। इसके बाद प्रभु बाबा के द्वारा बताया गया कि वे खंजरी को पंचम या छटे स्वर और सोलह मात्राओं में बजाते हैं जिसे वे भैरव राग बोलते हैं। जिससे नाग देवता भैरवी हो जाता है अर्थात लीन होकर झूमने लगता है। नाग देवता को कम से कम आधा घंटे तक भैरवी में रखते हैं। प्रभु बाबा के द्वारा बताया गया कि आज उनका उत्सव सीमित होकर रह गया है। प्राचीन समय में वे एक साथ कई नागों को साथ नचाया करते थे। उन्हें बुलाने में महुअर और खंजरी ही प्रमुख रही है। ज़ब महुअर से रामधुन या कृष्ण धुन बजाते हैं और साथ संगत होती है खंजरी की तो देवी देवता भैरवी हुए चले आते थे उनके सामने। और मदमस्त होकर झूमते थे जितनी देर सपेरा चाहें उतनी देर तक।

पीलू वाली मैया के भजन दिन के बारह गाये जाते हैं। जब घर किसी की मनौती पूरी हुई हो, बोलमा बोला हो या हिन्दू धर्म के अनुसार कोई त्यौहार हो ये पीलू वाली मैया के भजन अवश्य गाते हैं। जिसे ये पीलू राग कहते हैं। यह राग घर में सुख शांति के लिए गाया जाता है। गाते समय ये साथ में छटवें स्वर व सोलह मात्राओं में खंजरी बजाते हैं। पीलू माई इनकी कुलदेवी के रूप पूजी जाती हैं। चैत्र की नवदुर्गे हों या क्वार की। या वर्ष में दो बार पड़ने वाली गुप्त नवदुर्गा हों ये अपनी इष्टदेवी पीलू माई के भजन ही गाते हैं।

कनागत के सोलह दिनों में ये न ही खंजरी का उपयोग करते हैं और न ही महुअर का उपयोग करते हैं क्योंकि इनके अनुसार नाग इनके पूर्वज हैं और कनागत के दिनों में पूर्वजों का आगमन होता है इसलिए इन दिनों में ये साँपो को नहीं पकड़ते। किसी परिस्थिति में अग़र पकड़ना पड़े तो अपने इष्ट देव शिव जी से प्रार्थना एवं क्षमा याचना कर लोक कल्याण की भावना से पकड़ते जरूर हैं लेकिन सांप को पकड़ने के बाद उसे दूध पिलाते हैं और उसे फिर छोड़ देते हैं। प्रभु बाबा जी के द्वारा बताया गया कि इस समय अगर सांप हमको काट भी ले तो भी नहीं मारते।

रावणहत्था

यह प्राचीन भारतीय वाद्य यन्त्र है। जो वर्तमान में बहुत कम देखने को मिलता है यह पारम्परिक वाद्य यंत्र है जो विलुप्ति की कगार पर है। रावणहत्था प्रमुख रूप से तत वाद्य यन्त्र है जो वीणा और तम्बूरा की श्रेणी में आता है। जिस प्रकार वीणा के स्वर तंत्रियों के माध्यम से निकलते हैं उसी प्रकार रावणहत्था में भी दस तंत्रियां होती हैं जिनसे स्वर निकाले जाते हैं। ग्वालियर में निवासरत रावणहत्था वादक कलाकार रामचरण नायक जी द्वारा बताया गया कि प्राचीन काल में उनके पूर्वज राजा महाराजाओं के दरबार में रावणहत्था वाद्य को बजाकर राजाओं का मनोरंजन कर खुश किया करते थे। उस समय आधुनिक प्रकार के संगीत के उपकरण नहीं होते थे तब शादी विवाह का अवसर हो या तीज त्यौहार हो पारम्परिक वाद्य यंत्र ही बजाये जाते थे।

रावणहत्था के उद्भव की कथा

उद्भव का समय पूछने पर रामचरण नायक जी ने बताया कि जब श्री राम जी रावण से युद्ध करने के लिए लंका गए तब उनके साथ हमारे समाज के हमारे पूर्वज भी थे। युद्ध में राम जी ने रावण का दायाँ हाथ काट कर हमारे पूर्वजों को दिया और कहा आज से यह तुम्हारी आजीविका कमाने का उपकरण होगा। तुम्हारी आने वाली पीढ़ियां इसी से अपना जीवन यापन करेंगी।

रावण हत्था की बनावट

रावणहत्था की बनावट कुछ इस तरह होती है। एक तुम्बा होता है जो नारियल के सूखे खोल से बनता है उसे रावण का कन्धा कहते हैं।

उस खोल में पेचकस से गोल छेद कर उसमें एक हाथ की लम्बाई के बराबर बांस लगा होता हा। उसमें दस छेद होते हैं उनमें लकड़ी की बनी कील लगी होती हैं उन्हें ऊँगली कहते हैं। जिसमें स्वर की जो आठ तंत्रियां होती हैं जिस माध्यम से उन्हें कसा जाता है। और दो बड़े आकार के लकड़ी के बने बड़े आकार के कीले नुमा लगे होते हैं उन्हें अंगूठा कहते हैं। बांस को धागे से बांधा जाता है जिससे वह लंबे समय तक टूटे नहीं।

यह धनुषाकार होता है जिसे गोहा की लकड़ी को आग में तपाकर बनाया जाता है इसमें तात लगाया जाता है जो घोड़े की पूंछ के बालों से बनाया जाता है।

गोहा लकड़ी में पेचकस गर्म करके छेद करके उसमें तात को कसकर बांधा जाता है। उसी के नीचे दो छेद और किए जाते हैं जिसमें लोहे के तार में कुछ घुँघरू लगाए जाते हैं। इसे सुरक्षित रखने के लिए रस्सी बाँधी जाती है जिससे किसी स्थान पर सुरक्षित टांगा जा सके।

कनागत के सोलह दिनों में ये न ही खंजरी का उपयोग करते हैं और न ही महुअर का उपयोग करते हैं क्योंकि इनके अनुसार नाग इनके पूर्वज हैं और कनागत के दिनों में पूर्वजों का आगमन होता है इसलिए इन दिनों में ये साँपो को नहीं पकड़ते। किसी परिस्थिति में अग़र पकड़ना पड़े तो अपने इष्ट देव शिव जी से प्रार्थना एवं क्षमा याचना कर लोक कल्याण की भावना से पकड़ते जरूर हैं लेकिन सांप को पकड़ने के बाद उसे दूध पिलाते हैं और उसे फिर छोड़ देते हैं। प्रभु बाबा जी के द्वारा बताया गया कि इस समय अगर सांप हमको काट भी ले तो भी नहीं मारते।

रामचरण जी द्वारा बताया गया कि दीपावली के अवसर पर माँ लक्ष्मी जी के साथ ये रावणहत्था की भी पूजा करते हैं। ये लोग अपने वाद्य यन्त्र को लक्ष्मी और सरस्वती माँ का रूप मानते हैं।

नियम और निषेध

रावणहत्था बजाने से पहले उसे हल्दी या रोली का टीका लगाकर पालागन किया जाता है। ईश्वर से प्रार्थना कर उसे बजाना शुरू करते हैं। ये विशेष कर भादों की दौज पर बहुत बड़ा उत्सव मनाते हैं भादों की दौज को बाबा रामदेव का दिन माना जाता है जिसे ये लोग बड़ी धूमधाम से मनाते हैं।

इसके अलावा शादी विवाह के अवसर पर भी रावणहत्था बजाते हैं। वर्तमान में शादी विवाह में बजाने का प्रचलन कम हो गया है इसलिए अधिकतर ये भीड़ भाड़ वाली जगह पर ही बजाते हैं क्योंकि यह एकमात्र कमाई का जरिया है इसलिए ये रावणहत्था से तरह तरह की धुन निकाल कर दर्शकों को आकर्षित कर मनोरंजन करते हैं। कभी किसी की फरमाइश पर धुन निकालते हैं। इसी प्रकार रावणहत्था आज भी रामचरण नायक के लिए आजीविका का एकमात्र साधन है।

रामचरण जी द्वारा बताया गया कि ग्रहण के दिन रावणहत्था नहीं बजाते इसके पीछे इनका मानना है कि इसमें देवी सरस्वती और लक्ष्मी का वास होता है इसलिए ग्रहण के दिन हम इसे नहीं बजाते।

तम्बूरा

तम्बूरा भी एक प्राचीन एवं सांस्कृतिक लोक वाद्य यंत्र है, कहा जाता है कि देवी सरस्वती के हाथ में जो वीणा है लोक में वह तम्बूरा के रूप में प्रकट होता है। अमरकंटक में माँ नर्मदा के उद्गम स्थल पर नियमित रूप से तम्बूरा बजाकर, माँ नर्मदा की प्रदक्षिणा करने वाले श्रद्धालुओं की परिक्रमा की शुरुआत इसी तम्बूरे की धुन और माँ नर्मदा की आरती के साथ मोहन धुर्वे वर्षों से करते चले आ रहे हैं।

मोहन जी से यह पूछने पर कि यह वाद्य यंत्र आप कब से बजा रहे हैं? इस पर उन्होंने बताया कि मेरे परिवार की मैं तीसरी पीढ़ी में यह तम्बूरा बजा रहा हूँ। मेरे बाबा और मेरे पिता ने भी तम्बूरा बजा कर ही गृहस्थी चलायी। और जो मेरे हाथ में यह तम्बूरा है वह भी मेरे पिता के हाथों का ही बना हुआ है।

मोहन धुर्वे जी के यहाँ तम्बूरा बजाने की परंपरा के बारे में उन्होंने बताया कि उनके बाबा के सपने में माँ सरस्वती आयीं और सपने में उनके हाथ में अपनी वीणा रख दी। उसी सपने को ईश्वर की इच्छा मानते हुए बाबा ने तम्बूरा बजाकर रोजी रोटी की व्यवस्था की। उनके बाद पिता ने और पिता के बाद तीस वर्षों से मैं इस तम्बूरे से अपने बाल बच्चों का पेट पाल रहा हूँ। मैं यहाँ तम्बूरा बजाकर नर्मदा मैया की निरंतर तीस साल से सेवा कर रहा हूँ।

तम्बूरा की निर्माण प्रक्रिया

तम्बूरा बनाने के लिए एक पका हुआ कद्दू (काशीफल) लिया जाता है काशीफल को प्राकृतिक रूप से पकाया जाता है। फल को पूरी तरह से पक जाने पर तोड़ते हैं इसके पश्चात् कम से कम छः महीने तक इसे भूसे वाले स्थान या ऐसे स्थान पर रखते हैं जहाँ तापमान सामान्य से गर्म रहता है लेकिन धूप में नहीं सुखाते, धूप में सुखाने से फल के चटकने का भय रहता है। इसलिए फल को छाँव में ही सुखाते हैं। जब फल अच्छी तरह सूख जाता है तो उसे आरी या किसी तेज धार वाले औजार से इसे छोटी तस्तरी (प्लेट) आकर का ऊपर से काट लेते हैं अंदर से भी बीज हटाकर साफ कर लेते हैं। पूरी तरह से ऊपर से और अंदर से घिसाई कर चिकना किया जाता है।

फिर इसके कटे हुए हिस्से को बकरे की खाल से मड़ा जाता है। मड़ने के लिए भीगी उड़द दाल और मैथी के लेप का उपयोग करते हैं, वर्तमान में छोटी छोटी कीलों का भी उपयोग कर लेते हैं। चारों तरफ से अच्छे से चिपका लेते हैं, उसके बाद बगल से एक छोटा से छेद करते हैं उसमें एक बांस की लकड़ी लगाई जाती है। उस लकडी के किनारे वाले हिस्से में छोटे छोटे तीन छेद होते हैं उनमें लकड़ी की छोटी छोटी कीलें नुमा लगी होती हैं उन तीनों लकड़ियों में बारीक़ पतले तारों को कसा जाता है इन्हीं तारों से तम्बूरे में नाद उत्पन्न होती है। सजावट के लिए ऊपर मोर पंख का उपयोग किया जाता है।

नियम

कभी तम्बूरे को जमीन पर लेटा कर नहीं रखते सदैव खड़ा करके ही रखते हैं। दीपावली के दिन सरस्वती माँ एवं तम्बूरे की ही पूजा करते हैं। मोहन धुर्वे जी ने माँ नर्मदा के कनारे ही पूरा जीवन व्यतीत किया है एवं माँ नर्मदा की आरती ही गाते हैं। उन्होंने बताया जब से होश संभाला है तब से मैया की ही सेवा की है एवं इस तम्बूरे को बजाकर जो कुछ कमाया है वह सब माँ नर्मदा की ही कृपा है। मोहन जी कभी भी फिल्मी गीत नहीं गाते। उनका प्रण है कि आजीवन माँ नर्मदा की सेवा में रहेंगे। उनके द्वारा गाये मैया नर्मदा के भजन -

कर ले कर ले गर्भ भजन
सियाराम ने कहत जनम
कंचन काया तरु जाये भैया
कंचन काया तरु जाये भैया
आगे आगे राम चलत है
पीछे लक्ष्मण भईया
जिनके पीछे सिया जानकी चलत है
सभा जान ना भईया

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि लोक वाद्य यंत्र भारतीय लोक संस्कृति की आत्मा हैं। वे केवल ध्वनि नहीं, बल्कि समाज की स्मृतियों, भावनाओं और परंपराओं के वाहक हैं। इनका संरक्षण हमारी सांस्कृतिक जिम्मेदारी है।

सन्दर्भ सूची -

- प्रभु नाथ बाबा, सिंघारपुरा, मुरार, जिला ग्वालियर मोब. - +918871469680
- फेरन नाथ, सिंघारपुरा, मुरार, जिला ग्वालियर
- रामचरण नायक, मेलाग्राउंड, ग्वालियर मोब. 9977671109
- मोहन धुर्वे, अमरकंटक, नर्मदा उद्गम स्थल

संगीता सिंह
सहायक प्राध्यापक, हिन्दी
विजयाराजे शासकीय कन्या स्नातकोत्तर महाविद्यालय
मुरार, ग्वालियर , मोबा. 9977819671
jaitwarsangeeta@gmail.com

बैनगंगा : उत्पत्ति एवं अनुष्ठान

डॉ. लक्ष्मीकान्त चंदेला

भारतीय लोक में गंगा के अनेक नाम और पर्यायवाची हैं जिन्हें आराधक अवसर विशेष या जागृति विशेष के निमित्त अलग-अलग नाम से संबोधित करता है। यहां जिस नदी की पावन गाथा प्रस्तुत की जा रही है वह हृदय प्रदेश के सिवनी, बालाघाट, छिंदवाड़ा लोक में वैतरणी, पावनी और पवित्र मानी जाती है। वैसे तो गंगा, बाणगंगा, आकाश गंगा, पाताल गंगा आदि अनेक नाम ग्रंथों में मिलते हैं लेकिन बैनगंगा की उत्पत्ति बेहद अलौकिक व अद्भुत है। यह जरूर है कि भागीरथी की भांति किसी साधक की तप: साधना से धरा लोक में अवतरित नहीं होती लेकिन इसकी पुण्य वृत्ति ने लोक मानस में गहरे से उतर कर धराधाम में प्रवाहित हुई। इसलिए यह मात्र नदी नहीं है, कार्य-कारण की हेतु है, बल्कि वृति, प्रवृत्ति और प्रकृति की ज्ञान परम्परा का बोधक है। बैनगंगा के स्वर व संदेश प्रकारान्तरता का बोध कराते हुए प्रकृति की सचेतन आध्यात्मिकता से जोड़ देते हैं। इसलिए अपने उद्गम स्थल से लेकर संगम स्थल तक भागीरथी प्रवाह में पुण्य सलिला लोक वैतरणी बनी हुई। अतएव ऐसा पुण्य प्रताप उसकी कल-कल धारा में अनुगुंजित होता है।

बैनगंगा उत्पत्ति की विशिष्टता

- इसकी उत्पत्ति की कथा पौराणिक नहीं, लौकिक है लेकिन आदिम है।
- इसकी उत्पत्ति सृष्टि संचालन के निमित्त हुई है।
- यह लोक जीवन की अमरता का परिचायक है।
- यह आत्म में उत्पन्न होकर आध्यात्मिकता में अमर हो गयी है।
- अपने प्रवाह में लोक और सागर का पर्याय है।

'बैनगंगा' मात्र शब्द नहीं, लोक जीवन की आत्मा, अमरता और अनुभूति का परिचायक है। बैनगंगा का तटीय लोक इसी से अपने को उत्पन्न मानता है तथा इसी में अपने जीवन की समाप्ति का स्वप्न देखता है। इतनी निश्चल, पवित्र है बैनगंगा। इसकी कथा बड़ी रोचक है जिससे केवल नदी-प्रकृति की मर्यादा का बोध नहीं होता बल्कि व्यक्ति जीवन के संस्कारों का बोध होता है। यह अपने प्रवाह में लोक और सागर को पर्याय बनाती है।

उल्लेखनीय यह है कि बैनगंगा की कथा पौराणिक नहीं, लौकिक है। इसलिए लोक मानस के आत्म में नदी रूप में उत्पन्न होती है किन्तु लोक संस्कारों की आध्यात्मिकता में अमर हो गयी है जिसका प्रताप भागीरथी के समतुल्य माना जाता है। इसलिए मध्य प्रदेश के सिवनी, बालाघाट से महाराष्ट्र के भंडारा तक अपना विस्तार भाषा, संस्कृति, खान-पान, राग-रंग-रूप और आचार-व्यवहार में पाती है। लोक ऐसा भी मानता है कि सृष्टि संचालन के निमित्त इसकी उत्पत्ति हुई तथापि धन-धान्य, पूत-सपूत और सुख-समृद्धि से भरपूर समूचे बैनगंगा कछार की जीवनदायिनी बनी हुई है।

बैनगंगा

उत्पत्ति की कथा

मैया बैनगंगा की उत्पत्ति का इतिहास पुरातन व प्राचीन है। इसकी उत्पत्ति की कथा को कोई इतिहास से जोड़ता है, कोई पुराणों-धर्मग्रंथों से। कोई लोक कहावतों में कहता है, कोई गीतों में गुनगुनाता है तो कोई किंवदंतियों में पाता है। इस तरह बैनगंगा की कथा काफी रोचक, चमत्कारिक और रहस्यमयी बनी हुई है। इसलिए बैनगंगा कथाओं की कथा को अपने वक्ष में समेटे लोक जीवन संस्कृति की धरोहर बनी है।

ग्राम परतापुर मुंडारा, तहसील कुरई जिला सिवनी मध्यप्रदेश से उत्पन्न होकर अनेकों सहायक नदियों को प्रवाह का अनुगामी बनाते हुए दक्षिण से उत्तर में लखनवाड़ा, सिवनी तथा छपारा। फिर छपारा से पश्चिम की ओर तत्पश्चात् पूर्व की ओर वेगवती प्रवाह से बहती हुई गोदावरी में जा मिलती है तथा सागर को सागर की तरह विशाल बनने में अक्षुण्य योगदान देती है। सच में इसका इतना लम्बा- चौड़ा पाट है जितना उनकी उत्पत्ति और योगमाया का है। इसी नदी में छपारा से 15 किमी दूर भीमगढ़ नामक स्थान पर एशिया का सबसे बड़ा मिट्टी का संजय सरोवर बांध बनाया गया है।

बैनगंगा की उत्पत्ति के संबंध में एक दंतकथा लोक में बहुतायत से प्रचलित है। एक समय की बात है, सिवनी जिले के कुरई तहसील के परतापुर मुंडारा नामक गांव में एक आदिवासी परिवार रहता था। जिसके परिवार में एक ही स्वनामधन्य कन्या थी, जिसका नाम था 'हीरो'। कन्या जब समवयस्क हुई तो उसके लिए घरजमाई यानि लमसना लाया गया। लमसेना विवाह की शर्त के

(यह दृश्य केवलारी के पास उत्तर से दक्षिण-पूर्व की ओर मंथर गति से प्रवाहमान होने का है)

अनुसार ‘बैनी‘ घर जमाई बनकर खुशी-खुशी ‘हीरो‘ के साथ रहने लगा। खेती और पानी की समस्या प्रकृति के साथ जुड़ी हुई है। इसी समस्या को लेकर आदिवासी परिवार के सभी सदस्य मिलकर कुआं खुदाई का कार्य कर रहे थे। कुआं को काफी गहराई तक खुदाई करने के बाद भी पानी का स्रोत समझ नहीं आ रहा था। यह पूरे आदिवासी परिवार के लिए चिंता का विषय था। फिर भी कुआं खुदाई का कार्य निरन्तर चल रहा था।

एक दिन शाम के समय कुआं की खुदाई के पश्चात् सभी लोग घर आ गए। सौभाग्य या दुर्भाग्य कहिए कि पानी के लिए ले गए बर्तन गढुआ खेत में ही छूट गया तभी ससुर ने घरजमाई बैनी को गढुआ लेने खेत भेजा। इस समय काफी सांझ हो गई थी। बैनी गढुआ लेने कुआं की तरफ गया। काफी अंधियारा होने के बाद भी बैनी घर वापस नहीं पहुंचा तो पत्नी ‘हीरो‘ को चिंता सताने लगी। सब लोगों ने उसकी बात हंसी में टाल दी। बोले तुम दामाद को बिल्कुल बांधकर ही रखना चाहती हो। कभी तो उसको खुद के लिए भी समय दिया करो, आ जाएगा। इस तरह की बात होते-करते मुंहअंधाली हो गई तो सबको चिंता हुई कि बैनी अभी तक क्यों नहीं आए? चूंकि जिस खेत में कुआं बन रहा था, गांव से एक दो फर्लांग दूर था। हीरो को समझाने पर भी वह नहीं मानी, मुहल्ला-पडौ़स से पूछते-पूछते, पता करते कुआं की तरफ गयी।

‘हीरो‘ जैसे ही कुआं के पास पहुंची तो देखती है कि कुआं में पानी के बुलबुले उठ रहे हैं और किसी व्यक्ति के हाथ ऊपर की ओर दिखाई दे रहे हैं। उसे समझते देर नहीं लगी और वह अपने पति को डूबते देख ‘आव देखी न ताव‘ बचाने के लिए छलांग लगा दी। लेकिन हुआ यह कि वे दोनों आलोपित हो गए और वहीं से दो धाराएं प्रवाहित हुई।

जनश्रुति के अनुसार जब बैनी कुआं में गड़ुआ के लिए उतरा तो औंधे गड़ुआ को जैसे ही उठाया तो उसी समय बड़ी तेजी से जल की धारा निकल पड़ी। बैनी के नाम से बही जलधारा बैनगंगा के नाम से जानी गई, वहीं दूसरी धारा मुंडारा से दो किलोमीटर दूर दरासीकला में चरू नामक स्थान से कालान्तर में संशोधित रूप हिर्री नाम से जाना जाने लगा, जो कि बैनगंगा की पत्नी ‘हीरो‘ थी।

अनुष्ठान एवं पर्व

पर्व विशेष के अवसर पर इसके तट व संगम में किए जाने अनुष्ठानों का उल्लेखनीय महत्व है, जो निम्नानुसार होते हैं -

1. मेला मड़ई – मकर संक्रांति तथा कार्तिक की अमावस/पूर्णिमा में।
2. संगम में करैहा चढ़ाना
3. भजन-कीर्तन कराना
4. यज्ञ कराना/हवन करना
5. झालर उतारना
6. पुरखा विसर्जित करना
7. अस्थियां विसर्जित करना
8. अमावस/पूर्णिमा स्नान/मोनी नहाना व कातकी नहाना/डुबकी लगाना।
9. चारधाम के बाद दर्शन करना अनिवार्य है।

लोक में चमत्कारिक उत्पत्ति के कारण परम्पराओं में प्रथम पूज्य तो है ही, अपनी इच्छानुसार पान-फूल, आदि चढ़ाते हैं। सिवनी ही नहीं आस-पास के बालाघाट, छिंदवाड़ा, आदि समस्त जबलपुर संभाग में बैनगंगा प्रत्येक संस्कारों में मनाई-तपाई जाती है। यहां का लोक अस्थि विर्जसन भी यहीं करता है जिससे उनके पुरखे देवलोक में उच्च स्थान पाते हैं। इसे ही स्वर्ग गमन का उचित मार्ग मानते हैं। ऐसा लोक मन का विश्वास है।

इसीलिए आदिवासी समाज अपनी संस्कृति व मान्य परम्पराओं में बैनगंगा, उसका पानी और दर्शन को समाहित किया हुआ है। अनेक अवसरों पर गीत भी गाते हैं। विशेषत: इस क्षेत्र का आदिवासी समाज जब अपनी बेटी का विवाह करता है तब उसकी बेटी हरे बांस के मण्डप के नीचे पांव पखारते समय यानि पैर धुलाई अथवा दायजो के समय अपने बाबुल व सभी सगा जनों को आशीषती हुई कहती है-

‘‘पैंया पखारो धरम करो मेरे बाबुल, गंगा रे करो अस्नान
मेरे बाबुल गंगा रे करो अस्नान .... (टेक)
गंगा को पानी जो तुम पियो मेरे बाबुल, जियो रे लाखों बरस
मेरे बाबुल जियो रे लाखों बरस ....

ऐसे ही आदिवासी कन्या अपने भाई-भौजाई, काका-काकी, मोम्मा-माई(मामा-मामी) फूफा-फुआ, आजा-आजी, नाना-नानी यहां तक गोईं (सखी) को भी आशीष देती है, यथा-

‘‘पैंया पखारो धरम करो मेरे भैया, गंगा रे करो अस्नान
मेरे भैया गंगा रे करो अस्नान....
गंगा को पानी जो तुम पियो मेरे भैया, जियो रे लाखों बरस
मेरे भैया जियो रे लाखों बरस ....
‘‘पैंया पखारो धरम करो मेरी भाभी, गंगा री करो अस्नान
मेरी भाभी गंगा री करो अस्नान....
गंगा को पानी जो तुम पियो मेरी भाभी, जियो री लाखों बरस
मेरी भाभी जियो री लाखों बरस ....
‘‘पैंया पखारो धरम करो मेरे कक्का, गंगा रे करो अस्नान
मेरे कक्का गंगा रे करो अस्नान ....
गंगा को पानी जो तुम पियो मेरे कक्का, जियो रे लाखों बरस
मेरे कक्का जियो रे लाखों बरस ....

इस तरह अपनी सभी भुंइयां के रखवाले और सगे जनों को एक-एक का नाम ले-ले कर बैनगंगा से लाखों बरस जीने का आह्वान करती है और आशीष देती है। ठीक ऐसे ही लोक अपने गीत-गानों व उत्सवों में गुनगुनाता है-

‘‘धीरे बहो गंगा मैया लहर से
धीरे बहो गंगा मैया (टेक)

भड़ौनी लोकनृत्य एवं लोकगीत विधा

आगे के अंतरा/पद अपने लोक उत्सव, परम्परा, संस्कृति, कार्य-व्यवहार के अनुसार जोड़ता जाता है और बैनगंगा को स्मरण करता हुआ भजता-धजता, सुमरता-गुनता है और उसे प्रकृति की श्रेष्ठ कृति के रूप में लोक व्यापी बनाता है। लोक तो यह भी कहता है ‘गंगा-यमुना बार-बार, बैनगंगा एक बार‘। यह भी मान्यता है कि इस क्षेत्र का जो व्यक्ति चारों धाम की यात्रा या तीरत-बरत करने जाता है अंत में बैनगंगा में स्नान व दर्शन करता है क्योंकि माना जाता है, इसके बिना उनकी यात्रा सफल नहीं होती।बैनगंगा की उत्पत्ति वेद-पुराणों में न होकर लौकिकता में होती है। इसलिए बैनगंगा में ‘पानी नहीं जीवन’ की कल-कल धारा प्रवाहित होती है तथापि अपने बेगवान कल-कल प्रवाह में भागीरथी-सा प्रताप है। अतएव लोक अवसर विशेष अनुष्ठान करता है। इसलिए लोक कंठ अमरता के गीत गाता है एवं अपनी पीढ़ी को कथा तान बलिदान की तरह सुनाता है। यही सृष्टि संचालन का अजस्र भाव है। यही बैनगंगा का रहस्मयी चमत्कार है। इसलिए वैतरणी मानी जाती है।

इस तरह बैनगंगा की उत्पत्ति और नामकरण की कथा लोक के कंठ-कंठ में व्याप्त है। आज भी पूरे लोक में बैनगंगा की पूजा-अर्चना की जाती है। एक बार स्नान, दर्शन मात्र से ही लोक का जीवन समरस हो जाता है।

डॉ. लक्ष्मीकान्त चंदेला
एसोसिएट प्रोफेसर हिन्दी
अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय, रीवा, म.प्र.
ईमेल-lkchandela@rediffmail.com
मोबा. 9993458191

सहरिया जनजाति : ऐतिहासिक एवं पौराणिक

डॉ. योग्यता भार्गव

भारत की जनजातीय संस्कृति विश्व की प्राचीनतम और समृद्ध सांस्कृतिक परंपराओं में से एक मानी जाती है। भारतीय उपमहाद्वीप में निवास करने वाली जनजातियाँ केवल सामाजिक या आर्थिक समूह नहीं हैं, बल्कि वे मानव सभ्यता के प्रारंभिक चरणों की जीवित ऐतिहासिक स्मृतियाँ हैं। इन जनजातियों का जीवन प्रकृति के अत्यंत निकट रहा है, जहाँ मानव और पर्यावरण के बीच शोषण नहीं, बल्कि सह-अस्तित्व और संतुलन का संबंध विकसित हुआ।

जनजातीय समाजों की सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि उन्होंने आधुनिक सभ्यता के तीव्र भौतिक विकास से स्वयं को काफी हद तक अलग रखते हुए अपनी पारंपरिक जीवन-पद्धति, सामाजिक संरचना और सांस्कृतिक मूल्यों को संरक्षित किया है। जंगल, पर्वत, नदी और भूमि इनके लिए केवल संसाधन नहीं, बल्कि जीवनदाता और पूज्य तत्व रहे हैं। यही कारण है कि भारतीय जनजातीय संस्कृति को प्रकृति-केन्द्रित संस्कृति कहा जाता है।

मध्य भारत की सहरिया जनजाति इसी प्रकृति-केन्द्रित परंपरा की एक अत्यंत महत्वपूर्ण कड़ी है। यह जनजाति सदियों से जंगलों में निवास करती आ रही है और उसने अपने जीवन को भूमि, जल, वनस्पति और जीव-जंतुओं के साथ गहन सामंजस्य में ढाल लिया है। सहरिया समाज का अस्तित्व, पहचान और सांस्कृतिक चेतना आरण्यक परिवेश से इतनी गहराई से जुड़ी हुई है कि उन्हें समझे बिना भारतीय अरण्य संस्कृति को पूर्ण रूप से समझना संभव नहीं है।

सहरिया जनजाति को भारत सरकार द्वारा विशेष रूप से पिछड़ी एवं असुरक्षित जनजाति मानते हुए आदिम जनजाति अथवा Particularly Vulnerable Tribal Group (PVTG) की श्रेणी में रखा गया है। यह वर्गीकरण केवल प्रशासनिक दृष्टि से नहीं, बल्कि समाजशास्त्रीय और मानवशास्त्रीय दृष्टि से भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। यह इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि सहरिया समाज ने आधुनिक विकास की मुख्यधारा से दूरी बनाए रखते हुए अपनी पारंपरिक जीवनशैली, सामाजिक संरचना और आरण्यक चेतना को लंबे समय तक सुरक्षित रखा है।

सहरिया जनजाति की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

मध्य भारत का भू-भाग प्राचीन काल से ही घने जंगलों, पठारों और नदियों से युक्त रहा है। यह क्षेत्र मानव सभ्यता के आरंभिक चरणों में भी वनवासी समुदायों का प्रमुख निवास स्थल रहा है। सहरिया जनजाति का इतिहास इसी आरण्यक भूगोल से जुड़ा हुआ है।

ऐतिहासिक साक्ष्य और मानवशास्त्रीय अध्ययनों से यह संकेत मिलता है कि सहरिया जनजाति उन प्रारंभिक समुदायों में से एक है, जिन्होंने स्थायी कृषि और नगरीय सभ्यता के विकास से पहले जंगलों में जीवन को अपनाया। इनका जीवन शिकार, कंद-मूल, फल-फूल, जड़ी-बूटियों और सीमित कृषि पर आधारित रहा। यही कारण है कि सहरिया समाज को आदिम जनजाति की श्रेणी में रखा गया है।

इतिहास के विभिन्न चरणों में जब भारतीय समाज में राजसत्ता, सामंतवाद और नगर-केन्द्रित सभ्यता का विस्तार हुआ, तब भी सहरिया जनजाति ने स्वयं को इन संरचनाओं से काफी हद तक अलग रखा। वे न तो बड़े राज्यों का हिस्सा बने और न ही शहरी जीवन को अपनाया। इसके विपरीत, उन्होंने जंगलों को ही अपना संसार माना और वहीं अपनी सामाजिक संस्थाओं, परंपराओं और विश्वास प्रणालियों को विकसित किया।

मध्यकालीन और औपनिवेशिक काल में जब जंगलों पर राज्य का नियंत्रण बढ़ा और वन कानून लागू किए गए, तब सहरिया जनजाति का जीवन गंभीर रूप से प्रभावित हुआ। फिर भी, इस समुदाय ने अपनी सांस्कृतिक पहचान को पूरी तरह खोने नहीं दिया। आज भी सहरिया समाज की स्मृति में उनका आरण्यक अतीत, उनके पूर्वजों की कथाएँ और प्रकृति से जुड़ा जीवन गहराई से विद्यमान है।

'सहरिया' शब्द की भाषिक एवं ऐतिहासिक विवेचन

'सहरिया' शब्द की व्युत्पत्ति के संबंध में विद्वानों के बीच एकरूपता नहीं पाई जाती। यह शब्द विभिन्न भाषिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परंपराओं से विकसित हुआ माना जाता है। इस शब्द की व्युत्पत्ति को समझना इसलिए भी आवश्यक है, क्योंकि किसी जनजाति का नाम केवल पहचान का माध्यम नहीं होता, बल्कि उसके इतिहास, जीवन-दृष्टि और सामाजिक स्वभाव का संकेतक भी होता है।

एक प्रमुख मत के अनुसार 'सहरिया' शब्द की उत्पत्ति संस्कृत के 'सवर' अथवा 'शबर' शब्द से हुई है। संस्कृत साहित्य में 'शबर' शब्द का प्रयोग उन समुदायों के लिए किया गया है, जो जंगलों में निवास करते थे और जिनकी आजीविका शिकार तथा वनोपज पर आधारित थी। वैदिक और उत्तर-वैदिक साहित्य में 'शबर' शब्द का अर्थ प्रायः वनवासी, अरण्यचारी या शिकारी समुदाय के रूप में मिलता है।

रामायण और अन्य प्राचीन ग्रंथों में 'शबरी' का उल्लेख इसी वनवासी संस्कृति का प्रतीक है। शबरी न केवल एक पात्र है, बल्कि वह उस आरण्यक जीवन-दर्शन का प्रतिनिधित्व करती है, जिसमें भक्ति, प्रकृति और सरलता का समन्वय दिखाई देता है। भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से 'शबर' से 'शावरी', 'शवर', 'सावर' जैसे शब्दरूपों का विकास स्वाभाविक माना

सहरिया जनजाति को भारत सरकार द्वारा विशेष रूप से पिछड़ी एवं असुरक्षित जनजाति मानते हुए आदिम जनजाति अथवा Particularly Vulnerable Tribal Group (PVTG) की श्रेणी में रखा गया है। यह वर्गीकरण केवल प्रशासनिक दृष्टि से नहीं, बल्कि समाजशास्त्रीय और मानवशास्त्रीय दृष्टि से भी अत्यंत महत्वपूर्ण है। यह इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि सहरिया समाज ने आधुनिक विकास की मुख्यधारा से दूरी बनाए रखते हुए अपनी पारंपरिक जीवनशैली, सामाजिक संरचना और आरण्यक चेतना को लंबे समय तक सुरक्षित रखा है।

जाता है। कालांतर में उच्चारण और क्षेत्रीय भाषाओं के प्रभाव से यही शब्द 'सहरिया' के रूप में प्रतिष्ठित हुआ।

दूसरी ओर कुछ विद्वान 'सहरिया' शब्द की व्युत्पत्ति फारसी भाषा के 'सहरा' शब्द से मानते हैं। फारसी में 'सहरा' का अर्थ जंगल, निर्जन भूमि अथवा वनप्रदेश होता है। मध्यकालीन भारत में फारसी भाषा का व्यापक प्रभाव रहा है, विशेषकर प्रशासनिक और साहित्यिक क्षेत्रों में। यह संभावना प्रबल प्रतीत होती है कि 'सहरा' शब्द स्थानीय भाषाओं में रूपांतरित होकर 'सहरिया' बन गया हो।

इन दोनों मतों का तुलनात्मक विश्लेषण यह स्पष्ट करता है कि चाहे शब्द का मूल संस्कृत हो या फारसी, उसका अर्थ और भाव दोनों ही स्थितियों में जंगल और आरण्यक जीवन से जुड़ा हुआ है। इससे यह सिद्ध होता है कि 'सहरिया' शब्द केवल भाषिक संरचना नहीं, बल्कि उस जीवन-पद्धति का संकेतक है, जिसमें जंगल के साथ आत्मीय संबंध स्थापित किया गया है।

भाषिक व्युत्पत्ति और सांस्कृतिक अर्थ

किसी भी जनजाति का नाम केवल पहचान का साधन नहीं होता, बल्कि वह उसके सांस्कृतिक इतिहास और सामाजिक चेतना को भी अभिव्यक्त करता है। 'सहरिया' शब्द की व्युत्पत्ति में निहित 'वन', 'जंगल' और 'आरण्यक प्रदेश' का भाव सहरिया जनजाति के जीवन-स्वभाव से पूर्णतः मेल खाता है।

सहरिया जनजाति की उत्पत्ति को समझने के लिए उसके आरण्यक परिवेश से जुड़े जीवन-दर्शन को आधार बनाना आवश्यक है। सहरिया समाज स्वयं को प्रारंभ से ही जंगल, भूमि और प्राकृतिक परिवेश से जुड़ा हुआ मानता है। इसी आरण्यक चेतना के कारण उनकी उत्पत्ति संबंधी मान्यताएँ भी प्रकृति और वन से संबद्ध दिखाई देती हैं।

'सहरिया' शब्द की व्युत्पत्ति तथा जनजाति की उत्पत्ति से जुड़े विश्वास यह संकेत देते हैं कि यह समुदाय स्वयं को धरती पर उत्पन्न प्रारंभिक मानव समूहों में से एक मानता है। उनकी लोकमान्यताओं के अनुसार, सहरिया लोग बस्तियों या नगरों से नहीं, बल्कि सीधे जंगल और प्राकृतिक परिवेश से उत्पन्न हुए हैं। यही कारण है कि वे अपने अस्तित्व और पहचान को आरण्यक जीवन से जोड़कर देखते हैं।

सहरिया समाज में प्रचलित उत्पत्ति संबंधी लोककथाएँ यह दर्शाती हैं कि यह जनजाति प्रकृति को केवल संसाधन नहीं, बल्कि माता और संरक्षक के रूप में स्वीकार करती है। उनकी मान्यताओं में मानव, वन और जीव-जंतुओं के बीच कोई स्पष्ट विभाजन नहीं है। इस दृष्टि से सहरिया जनजाति की उत्पत्ति की अवधारणा भारतीय अरण्य संस्कृति की व्यापक परंपरा से जुड़ी हुई प्रतीत होती है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि सहरिया जनजाति की उत्पत्ति संबंधी धारणाएँ उन्हें एक आदिम, वनवासी और प्रकृति-निष्ठ समुदाय के रूप में प्रस्तुत करती हैं, जिसकी पहचान प्रारंभ से ही जंगल और आरण्यक जीवन से अविच्छिन्न रूप से जुड़ी रही है।

मौखिक इतिहास की अवधारणा और जनजातीय समाज

जनजातीय समाजों का इतिहास प्रायः लिखित दस्तावेजों में सुरक्षित नहीं होता, बल्कि वह मौखिक परंपरा के माध्यम से पीढ़ी-दर-पीढ़ी संप्रेषित होता है। लोककथाएँ, मिथक, गीत, अनुष्ठान और स्मृतियाँ ही उनके लिए इतिहास का कार्य करती हैं। इस दृष्टि से लोककथा केवल कल्पना या मिथक नहीं होती, बल्कि वह किसी समुदाय की ऐतिहासिक चेतना, आत्मपहचान और सांस्कृतिक स्मृति का प्रतिनिधित्व करती है।

सहरिया जनजाति का इतिहास भी मुख्यतः मौखिक परंपरा पर आधारित है। उनके समाज में प्रचलित उत्पत्ति संबंधी कथाएँ यह स्पष्ट करती हैं कि वे स्वयं को धरती पर उत्पन्न प्रारंभिक मानव समुदायों में से एक मानते हैं। इन कथाओं के माध्यम से सहरिया समाज अपने अस्तित्व को दैवीय, प्राकृतिक और आदिम परंपरा से जोड़ता है।

सहरिया जनजाति की उत्पत्ति से जुड़ी लोकअवधारणाएँ यह संकेत देती हैं कि यह समुदाय स्वयं को जंगल और प्रकृति से अलग नहीं मानता। उनके अनुसार मानव, वन, भूमि और जीव-जंतु एक ही जीवन-चक्र के अंग हैं। इस दृष्टि से उनकी उत्पत्ति की कथाएँ केवल मानव-जन्म की कथा नहीं, बल्कि मानव–प्रकृति संबंधों की व्याख्या भी हैं।

इन लोककथाओं में सहरिया समाज को धरती पर उत्पन्न प्रारंभिक मानवों में से एक बताया गया है, जो प्रकृति के सान्निध्य में रहते हुए भूमि, जल, वृक्ष और जीवों के साथ सामंजस्य स्थापित कर जीवनयापन करते आए हैं। यही कारण है कि उनकी सांस्कृतिक पहचान में प्रकृति-पूजा और आरण्यक चेतना का विशेष स्थान है।

सहरिया जनजाति में प्रचलित एक प्रमुख लोककथा 'प्रथम मानव की कथा' है। इस कथा के अनुसार, जब भगवान ने सृष्टि की रचना आरंभ की, तो उन्होंने सबसे पहले एक मनुष्य की रचना की। उसे एक स्थान पर बैठाकर यह आदेश दिया गया कि वह वहीं स्थिर रहे।

इसके पश्चात भगवान ने दूसरे मनुष्य की रचना की और उसे पहले मनुष्य के पास बैठाया। पहला मनुष्य अत्यंत सरल, भोला और विनम्र स्वभाव का था। उसने दूसरे मनुष्य के लिए स्थान बनाते हुए थोड़ा खिसककर बैठना स्वीकार कर लिया। इसी प्रकार भगवान एक-एक करके और भी मनुष्यों की रचना करते गए, और वह पहला मनुष्य प्रत्येक नए मनुष्य के लिए स्थान बनाता हुआ धीरे-धीरे खिसकता चला गया।

अंततः वह मनुष्य सबसे किनारे पहुँच गया। जब सृष्टि पूर्ण हुई और भगवान ने उस पहले मनुष्य को देखा, तो पाया कि वह अपने नियत स्थान पर नहीं है। इसे आदेश की अवहेलना मानते हुए भगवान क्रोधित हो उठे और उस मनुष्य को यह कहते हुए शाप दिया कि अब वह मनुष्यों की बस्तियों में नहीं रहेगा, बल्कि दूरस्थ जंगलों में निवास करेगा, और वन ही उसके जीवन-निर्वाह का आधार बनेगा।

सहरिया जनजाति के लोग मानते हैं कि वही पहला मनुष्य उनके पूर्वज थे। इस कथा के माध्यम से सहरिया समाज अपने आरण्यक जीवन को दैवीय स्वीकृति प्रदान करता है। जंगल में निवास को वे दंड नहीं, बल्कि अपनी पहचान और जीवन-दर्शन के रूप में स्वीकार करते हैं।

मानवशास्त्रीय दृष्टि से यह कथा अत्यंत महत्वपूर्ण है। यह केवल उत्पत्ति की कथा नहीं, बल्कि सामाजिक स्थिति की व्याख्या भी है। पहला मनुष्य अपनी विनम्रता के कारण धीरे-धीरे समाज के हाशिये पर पहुँच जाता है। यह कथा सहरिया समाज की ऐतिहासिक स्थिति को प्रतीकात्मक रूप में व्यक्त करती है, जहाँ वे सरलता, विनम्रता और सहनशीलता के कारण मुख्यधारा से दूर होते गए।

इसके बावजूद, यह कथा आत्मगौरव से भी जुड़ी हुई है। सहरिया समाज स्वयं को त्यागी, सहनशील और प्रकृति-निष्ठ मानव के रूप में देखता है। उनके लिए जंगल में रहना हीनता नहीं, बल्कि नैतिक और

सांस्कृतिक श्रेष्ठता का प्रतीक है।

सहरिया जनजाति में प्रचलित एक अन्य महत्वपूर्ण लोककथा 'ईश्वर के शरीर से उत्पत्ति' की कथा है। यह कथा बरोदिया निवासी घनश्याम सहरिया और अमोल सिंह रावत द्वारा वर्णित की गई है और आज भी मौखिक परंपरा में जीवित है।

इस कथा के अनुसार, जब भगवान मनुष्यों की रचना कर रहे थे, तब एक समय ऐसा आया जब उनके पास मिट्टी समाप्त हो गई। इस स्थिति में उन्होंने यह विचार किया कि अब शेष मनुष्यों की रचना किस प्रकार की जाए। तब भगवान ने अपने ही शरीर से मैल निकालकर उससे एक मनुष्य का निर्माण किया।

यह मनुष्य आकार में छोटा और श्यामवर्ण था। चूँकि उसकी उत्पत्ति ईश्वर के शरीर से हुई थी, इसलिए भगवान ने उसका नाम 'सहरिया' रखा। सहरिया समुदाय की मान्यता है कि वे उसी प्रथम मानव के वंशज हैं।

इस कथा का प्रतीकात्मक अर्थ अत्यंत गहन है। 'ईश्वर के शरीर से उत्पत्ति' की अवधारणा सहरिया समाज को यह विश्वास प्रदान करती है कि वे किसी हीन या तुच्छ उत्पत्ति के नहीं, बल्कि सृष्टि के मूल तत्व से जुड़े हुए हैं।

मानवशास्त्रीय दृष्टि से यह कथा आदिम समाजों में पाए जाने वाले उस विश्वास को दर्शाती है, जहाँ समुदाय स्वयं को सृष्टि के प्रारंभिक और मूल मानवों में स्थान देता है। यह विश्वास उन्हें आत्मसम्मान और सांस्कृतिक दृढ़ता प्रदान करता है, विशेषकर तब, जब बाहरी समाज उन्हें पिछड़ा या हाशिये पर स्थित मानता है।

सहरिया जनजाति की उत्पत्ति संबंधी लोककथाएँ उनकी सांस्कृतिक स्मृति का आधार हैं। ये कथाएँ सामाजिक एकता, सामूहिक पहचान और नैतिक मूल्यों को बनाए रखने में सहायक होती हैं।

इन कथाओं के माध्यम से सहरिया समाज अपनी नई पीढ़ी को यह सिखाता है कि उनका जीवन जंगल और प्रकृति से जुड़ा हुआ है और यही उनकी वास्तविक पहचान है।

पौराणिक परंपरा और जनजातीय इतिहास का अंतर्संबंध

भारतीय सभ्यता की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह रही है कि यहाँ इतिहास, मिथक और लोकपरंपरा के बीच कठोर विभाजन नहीं किया गया। विशेषतः जनजातीय समाजों के संदर्भ में पौराणिक कथाएँ केवल धार्मिक आख्यान नहीं, बल्कि उनकी उत्पत्ति, सामाजिक स्थिति और सांस्कृतिक पहचान की व्याख्या का माध्यम भी रही हैं। सहरिया जनजाति की पहचान भी इसी पौराणिक–लोकपरंपरागत अंतर्संबंध के माध्यम से विकसित हुई है।

सहरिया समाज में प्रचलित अनेक लोककथाएँ और विश्वास स्वयं को पौराणिक संदर्भों से जोड़ते हैं। इनमें महर्षि वशिष्ठ और राजा विश्वामित्र की कथा विशेष रूप से महत्वपूर्ण मानी जाती है, क्योंकि यह कथा केवल ऋषियों और राजाओं के संघर्ष की कथा नहीं है, बल्कि अनेक जनजातियों की उत्पत्ति से भी जुड़ी हुई मानी जाती है।

सहरिया जनजाति में प्रचलित एक अन्य महत्वपूर्ण लोककथा 'ईश्वर के शरीर से उत्पत्ति' की कथा है। यह कथा बरोदिया निवासी घनश्याम सहरिया और अमोल सिंह रावत द्वारा वर्णित की गई है और आज भी मौखिक परंपरा में जीवित है।

पौराणिक साहित्य में वर्णित विश्वामित्र–वशिष्ठ–कामधेनु की कथा भारतीय सांस्कृतिक चेतना में एक केंद्रीय स्थान रखती है। इस कथा के अनुसार, राजा विश्वामित्र अपनी विशाल सेना के साथ महर्षि वशिष्ठ के आश्रम पहुँचे। वशिष्ठ ने दिव्य गौ कामधेनु की सहायता से राजा और उनकी सेना का भव्य आतिथ्य किया।

कामधेनु की अद्भुत शक्ति को देखकर विश्वामित्र के मन में यह इच्छा उत्पन्न हुई कि यदि यह गौ उनके पास हो, तो उनकी राजसत्ता और भी अधिक शक्तिशाली हो सकती है। उन्होंने महर्षि वशिष्ठ से कामधेनु को देने का आग्रह किया, किंतु वशिष्ठ ने यह कहते हुए इनकार कर दिया कि कामधेनु उनके तप, यज्ञ और आश्रम जीवन का आधार है।

इस अस्वीकार से क्रोधित होकर विश्वामित्र ने बलपूर्वक कामधेनु को ले जाने का प्रयास किया। तब महर्षि वशिष्ठ के आदेश पर कामधेनु ने अपने शरीर के विभिन्न अंगों से असंख्य पराक्रमी वीरों की सृष्टि की। पौराणिक वर्णनों में इन वीरों से कंबोज, शक, यवन, पहलव, हारीत, सुकरात आदि समुदायों की उत्पत्ति मानी जाती है। इन वीरों ने विश्वामित्र की सेना को पराजित कर दिया।

लोकमान्यता के अनुसार, कामधेनु से उत्पन्न ये वीर आगे चलकर विभिन्न क्षेत्रों में बस गए और उनसे अनेक जनजातियों का विकास हुआ। मध्य भारत की सहरिया जनजाति भी स्वयं को इसी आरण्यक और वीर परंपरा से जोड़कर देखती है।

सहरिया समाज की लोकस्मृति में यह विश्वास प्रचलित है कि उनके पूर्वज भी उन वीर समुदायों में से थे, जिन्हें कामधेनु ने सृजित किया था। इस विश्वास के माध्यम से सहरिया समाज स्वयं को किसी पराजित या हाशिये के समुदाय के रूप में नहीं, बल्कि एक प्राचीन, वीर और स्वतंत्र परंपरा के वाहक के रूप में देखता है।

निष्कर्ष

प्रस्तुत अध्ययन के समन्वित विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि सहरिया जनजाति केवल एक सामाजिक समूह नहीं है, बल्कि वह भारतीय अरण्य संस्कृति, प्रकृति-पूजा और आदिम जीवन-दर्शन की जीवंत अभिव्यक्ति है।

'सहरिया' शब्द की व्युत्पत्ति, उनका आरण्यक जीवन, उत्पत्ति संबंधी लोककथाएँ और पौराणिक संदर्भ—ये सभी मिलकर उनकी सांस्कृतिक पहचान का निर्माण करते हैं। उनकी लोककथाएँ इतिहास, मिथक और सांस्कृतिक स्मृति का ऐसा समन्वय प्रस्तुत करती हैं, जो उन्हें न केवल अतीत से जोड़ता है, बल्कि वर्तमान और भविष्य के लिए भी दिशा प्रदान करता है।

सहरिया समाज का जीवन यह सिखाता है कि मानव और प्रकृति के बीच संतुलन और सह-अस्तित्व ही सतत विकास का वास्तविक आधार है। इस दृष्टि से सहरिया जनजाति केवल अध्ययन का विषय नहीं, बल्कि आधुनिक समाज के लिए एक सांस्कृतिक और नैतिक संदेश भी है।

डॉ. योग्यता भार्गव
सहायक प्राध्यापक, हिंदी शासकीय नेहरू स्नातकोत्तर
महाविद्यालय अशोक नगर मध्यप्रदेश पिन-473331
मो.9425462601
Yogyatabhargava@gmail.com

भारतीय वाङ्मय में भाषा की उत्पत्ति

डॉ. आशुतोष उपमन

भारतीय परंपरा में भाषा (वाक्) को सिर्फ संप्रेषण का साधन नहीं माना गया है। वरन् भाषा को सृष्टि, ज्ञान और चेतना का मूल तत्त्व के रूप मे स्वीकार किया गया है। भारतीय वाङ्मय में वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, व्याकरण, मीमांसा और दर्शन ग्रंथ - भाषा की उत्पत्ति, स्वरूप और भाषा की कार्यप्रणाली पर विस्तृत रूप से वैचारिक चिंतन प्रस्तुत करते हैं। पाश्चात्य भाषाविज्ञान भाषा को मानव-निर्मित के रूप मे स्वीकार करता है। भारतीय परंपरा में भाषा को नित्य, अपौरुषेय और ब्रह्मतत्त्व से संबद्ध माना गया है। भाषा की उत्पत्ति को लेकर विद्वानों में विभिन्न प्रकार से मतभेद रहे हैं तथा भाषा की स्पष्टता को लेकर विभिन्न तरह के सिद्धांत प्रस्तुत किए गए हैं। भारतीय संदर्भ में भाषा का इतिहास अत्यंत प्राचीन समृद्ध और बहुस्तरीय रहा है। प्रस्तुत शोध भाषा की उत्पत्ति से संबंधित प्रमुख सिद्धांतों, भारत में भाषाओं के ऐतिहासिक विकास, वैदिक संस्कृत से लेकर आधुनिक भारतीय भाषाओं तक की समग्र यात्रा, तथा सामाजिक-सांस्कृतिक कारकों के प्रभाव का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत करता है।

प्रस्तुत शोध में भाषा की उत्पत्ति और विकास को (नाद) ध्वनि → पद → वाक्य → अर्थ के क्रम में भारतीय वाङ्मय के प्रामाणिक उद्धरणों सहित स्पष्ट किया गया है।

2. भाषा की दैवीय और दार्शनिक अवधारणा

2.1 वाक् का दैवीय स्वरूप

ऋग्वेद में वाक् को देवी के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। “अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमायज्ञियानाम्। तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम्॥” अर्थात् वाणी स्वयं को सृष्टि की संचालिका और यज्ञ की आधारशक्ति के रूप में घोषित करती है। इससे स्पष्ट होता है कि भाषा कोई मानव-निर्मित नहीं है। यह दैवी और सार्वभौमिक शक्ति है।

2.2 शब्द का अपौरुषेयत्व

मीमांसा दर्शन के अनुसार वेद और शब्द अपौरुषेय हैं। “नित्यत्वाच्छब्दस्य” अर्थात् शब्द नित्य है तथा उसका निर्माण किसी व्यक्ति द्वारा नहीं हुआ है।

भारतीय परंपरा में भाषा को नित्य, अपौरुषेय और ब्रह्मतत्त्व से संबद्ध माना गया है। भाषा की उत्पत्ति को लेकर विद्वानों में विभिन्न प्रकार से मतभेद रहे हैं तथा भाषा की स्पष्टता को लेकर विभिन्न तरह के सिद्धांत प्रस्तुत किए गए हैं। भारतीय संदर्भ में भाषा का इतिहास अत्यंत प्राचीन समृद्ध और बहुस्तरीय रहा है। प्रस्तुत शोध भाषा की उत्पत्ति से संबंधित प्रमुख सिद्धांतों, भारत में भाषाओं के ऐतिहासिक विकास, वैदिक संस्कृत से लेकर आधुनिक भारतीय भाषाओं तक की समग्र यात्रा, तथा सामाजिक-सांस्कृतिक कारकों के प्रभाव का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत करता है।

3. ध्वनि (नाद/शब्द) की अवधारणा

3.1 नाद से शब्द की उत्पत्ति

नादेन विन्यस्तमिदं यद्विश्वं चराचरम्।
नादः कालोऽखिलो योगी नादं वै ब्रह्म सनातनम्॥

सम्पूर्ण चराचर सृष्टि: नाद (ध्वनि:) द्वारा उत्पन्न है। योगी नाद को ही ब्रह्म कहते है। भारतीय परंपरा में ध्वनि को भाषा की मूल इकाई माना गया है। उपनिषद् में नाद को ब्रह्म तत्व से आच्छादित किया गया है। “शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति” अर्थात् शब्द-ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करने पर मनुष्य परम ब्रह्म में प्रवेश करता है। योग और तांत्रिक परंपरा में अनाहत नाद को सृष्टि की मूल स्पंदन शक्ति माना गया है। व्याकरण परंपरा में इस नाद का रूपांतरण वर्णों में स्पष्ट होता है। प्रातिशाख्य ग्रंथों में वर्णों को भाषा की आधारशिला कहा गया है।

3.2 वैयाकरणों की ध्वनि-चिंतन परंपरा

पाणिनि ने वर्ण (ध्वनि) को भाषा की आधारशिला माना है। शिक्षा ग्रंथों में कहा गया है “वर्णाः पदम्, पदं वाक्यम्” अर्थात् वर्ण (ध्वनि) से पद और पद से वाक्य बनता है।

4. पद (शब्द) की अवधारणा

4.1 पद की परिभाषा

महाभाष्य में पतंजलि पद को अर्थबोधक इकाई मानते हैं। “अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्” यह सूत्र शब्द की अर्थ रूपी क्षमता को स्पष्ट करता है।

4.2 स्फोट सिद्धांत

भर्तृहरि ने शब्द के आंतरिक, अविभाज्य स्वरूप को ‘स्फोट’ कहा है। “स्फोटो नामार्थवाचकः” अर्थात् वास्तविक शब्द वह है जो अर्थ का बोध कराने मे सक्षम हो।

5. वाक्य की अवधारणा

भारतीय मीमांसा और व्याकरण परंपरा में वाक्य को अर्थबोध की पूर्ण इकाई माना गया है। “वाक्यं रसात्मकं काव्यम्” मीमांसा दर्शन में कहा गया है। “वाक्यादेव अर्थः प्रतीयते” अर्थात् वाक्य से ही अर्थ की प्रतीति होती है। केवल शब्द से अर्थ का अनुमान नहीं लगाया जा सकता है। वाक्य-स्फोट के विषय मे “न पदेन न वर्णेन वाक्यार्थः प्रतीयते” भर्तृहरि ने स्पष्ट किया है कि न तो पृथक-पृथक वर्णों से और न ही पदों से बल्कि समग्र वाक्य से वाक्य का अर्थ प्रकट होता है।

6. अर्थ की अवधारणा

शब्द और अर्थ का नित्य संबंध

“नित्यः शब्दार्थसंबन्धो “

भारतीय दर्शन में शब्द और अर्थ का संबंध नित्य माना गया है। अभिधा, लक्षणा और व्यंजना काव्यशास्त्र में अर्थ-प्रतीति के तीन स्तर बताए गए है।

- अभिधा – प्रत्यक्ष अर्थ
- लक्षणा – गौण अर्थ

- व्यञ्जना – निहित/रसात्मक अर्थ

आनंदवर्धन कहते हैं- “व्यञ्जना नाम तृतीया शक्तिः” व्यञ्जना शक्ति अर्थ का भाव प्रकट करती है।

7. ध्वनि से ब्रह्म तक भाषा का अस्तित्वात्मक आयाम

भारतीय वाङ्मय में भाषा की यात्रा ध्वनि से प्रारंभ होकर ब्रह्म तक पहुँचती है। नाद → वर्ण → पद → वाक्य → अर्थ/ब्रह्म। यह क्रम केवल भाषिक नहीं है। यह दार्शनिक और आध्यात्मिक शास्त्रोक्त प्रमाण है। भाषा यहाँ चेतना की अभिव्यक्ति बन जाती है। भर्तृहरि कहते है - “शब्दतत्त्वमेव ब्रह्म” इस प्रकार भाषा स्वयं ब्रह्मानुभूति का साधन बन जाती है।

8. भाषा की उत्पत्ति से संबंधित प्रमुख सिद्धांत

भाषा की उत्पत्ति को लेकर सम्पूर्ण विश्व में अनेक सिद्धांत प्रचलित रहे हैं। भारतीय और पाश्चात्य भाषाविद् स्वयं के दृष्टिकोण से भाषा पर विचार प्रस्तुत किए है। जिसमे कुछ सिद्धांत प्रमुख है -

8.1 दैवीय सिद्धांत

इस सिद्धांत के अनुसार भाषा ईश्वर द्वारा प्रदत्त शक्ति स्वरूप है। भारतीय परंपरा में यह विचार अत्यंत प्राचीन है। ऋग्वेद में वाणी को देवी के रूप में प्रतिष्ठित एवं स्थापित किया गया है। ऋषयो मंत्र द्रष्टार: वैदिक पंक्ति से यह स्पष्ट होता है की ऋषियों को मंत्रों का साक्षात्कार एवं प्रत्यक्षीकरण हुआ।भाषा मनुष्य द्वारा निर्मित नहीं की गयी अपितु यह प्रकट हुई है।

8.2 अनुकरण सिद्धांत

इस सिद्धांत के अनुसार भाषा की उत्पत्ति प्रकृति की ध्वनियों के अनुकरण से प्राप्त हुई है। मनुष्य ने पशु-पक्षियों की आवाज, जल, वायु आदि की ध्वनियों की नकल करते हुए शब्दों का निर्माण करना प्रारंभ किया है।

8.3 भावात्मक सिद्धांत

भाषा के विकास मे मनुष्य के सहज भावों से यह सिद्धांत निर्मित हुआ है जैसे पीड़ा, आश्चर्य, प्रसन्नता आदि।

8.4 सामाजिक श्रम सिद्धांत

सामूहिक श्रम और सामाजिक सहयोग की आवश्यकता ने भाषा को उत्पन्न किया। परस्पर निरंतर कार्य करते समय समन्वय हेतु संकेत और ध्वनियाँ विकसित हुई।

8.5 भारतीय भाषिक चिंतन

भारतीय दार्शनिक परंपरा में भाषा को नित्य (शाश्वत) माना गया है। मीमांसा और व्याकरण दर्शन में शब्द को अपौरुषेय कहा गया है। भर्तृहरि ने ‘शब्द-ब्रह्म’ की अवधारणा प्रस्तुत करते हुए स्पष्ट किया है कि सम्पूर्ण सृष्टि शब्द से ही प्रकट होती है।

9. भारत में भाषाओं का प्राचीन इतिहास

वैदिक संस्कृत

भारत में उपलब्ध सबसे प्राचीन ऐतिहासिक भाषा के रूप मे वैदिक संस्कृत है जिसका प्रमाण ऋग्वेद (लगभग 1500 ई.पू.) में प्राप्त होता है। यह भाषा अत्यंत समृद्ध, संरचित और काव्यात्मक रूप मे व्यवस्थित है। वैदिक संस्कृत मौखिक परंपरा में संरक्षित रही है।

उत्तर वैदिक और शास्त्रीय संस्कृत

समय के साथ-साथ संस्कृत भाषा का मानकीकरण हुआ जिसमे पाणिनि के ‘अष्टाध्यायी’ ने संस्कृत भाषा को एक वैज्ञानिक व्याकरण का रूप प्रदान किया तथा शास्त्रीय संस्कृत साहित्य- रामायण, महाभारत एवं कालिदास के काव्य ने संस्कृत भाषा को उच्च शिखर पर पहुचाने का कार्य किया।

प्राकृत भाषाएँ

संस्कृत भाषा के समानांतर जनसाधारण की भाषाएँ प्राकृत कहलायीं तथा यह सरल, प्रवाहपूर्ण और व्यवहारिक रूप में कार्य करने लगी।

पालि और अर्धमागधी

बौद्ध और जैन साहित्य की क्रमशः पालि और अर्धमागधी भाषा में रचना हुई। इन भाषाओं ने धर्म के प्रचार-प्रसार में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया।

शौरसेनी और महाराष्ट्री प्राकृत

इन प्राकृत भाषा से आगे चलकर आधुनिक भारतीय भाषाओं का क्रमिक विकास हुआ।

अपभ्रंश और आधुनिक भाषाओं का विकास

अपभ्रंश, प्राकृत और आधुनिक भाषाओं के बीच की मध्यस्थ कड़ी है। लगभग 6वीं से 12वीं शताब्दी के बीच अपभ्रंश साहित्य विकसित हुआ। इसके पश्चात हिंदी, बंगला, मराठी, गुजराती, पंजाबी आदि भाषाओं का विकास प्रारंभ हुआ।

द्रविड़ भाषाएँ

भारतीय भाषिक परिदृश्य में द्रविड़ भाषाओं का विशेष स्थान प्राप्त होता है। तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम भाषाओं की साहित्यिक परंपरा अत्यंत प्राचीन है। तमिल साहित्य का ‘संगम युग’ भाषा की प्राचीनता का प्रमाण है।

सामाजिक-सांस्कृतिक प्रभाव

भाषा का विकास समाज, राजनीति, धर्म और संस्कृति से परस्पर से जुड़ा हुआ है। विदेशी आक्रमणों, व्यापार, और सांस्कृतिक संपर्कों ने भारतीय भाषाओं को बहुत प्रभावित किया है। तथापि फारसी, अरबी और अंग्रेज़ी के शब्द भारतीय भाषाओं में समाहित हुए दिखाई पड़ते है।

आधुनिक काल में भारतीय भाषाएँ

औपनिवेशिक काल में अंग्रेज़ी का प्रभाव अधिक दिखाई पड़ता है। स्वतंत्रता के बाद भारतीय संविधान ने भाषाई विविधता को मान्यता दी तथा शिक्षण प्रणाली में सभी भाषाओं की मातृभाषा को प्राथमिकता प्रदान की। वर्तमान में . भारत में सैकड़ों भाषाएँ और बोलियाँ प्रचलित एवं प्रचलन मे हैं।

10. शोध पत्र के उद्देश्य

इस शोध पत्र के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं—

1. भारतीय वाङ्मय (ऋग्वेद, उपनिषद, ब्राह्मण ग्रंथ, निरुक्त, व्याकरण ग्रंथ आदि) में भाषा की उत्पत्ति संबंधी अवधारणाओं का अध्ययन करना।
2. वैदिक एवं दार्शनिक परंपरा में वाक् (Speech) और शब्द की उत्पत्ति का अध्ययन करना।

भाषा का विकास समाज, राजनीति, धर्म और संस्कृति से परस्पर से जुड़ा हुआ है। विदेशी आक्रमणों, व्यापार, और सांस्कृतिक संपर्कों ने भारतीय भाषाओं को बहुत प्रभावित किया है। तथापि फारसी, अरबी और अंग्रेज़ी के शब्द भारतीय भाषाओं में समाहित हुए दिखाई पड़ते है।

> वैदिक काल से आधुनिक युग तक भाषाओं का विकास निरंतर सामाजिक परिवर्तनों के साथ जुड़ा रहा है। भारतीय वाङ्मय में भाषा की उत्पत्ति का विचार अत्यंत सूक्ष्म और गहन रूप मे विकसित है। ध्वनि से लेकर अर्थ तक की यात्रा व्याकरणिक नहीं दार्शनिक है। वेदों की वाक्, उपनिषदों का शब्द-ब्रह्म, पाणिनि का व्याकरण और भर्तृहरि का स्फोट सिद्धांत यह सभी मिलकर सिद्ध करते हैं कि भारतीय परंपरा में भाषा को सृष्टि और चेतना का मूल तत्त्व माना गया है। भारतीय वाङ्मय में भाषा की उत्पत्ति को दैवी और आध्यात्मिक आधार पर समझा गया है। भाषा को ब्रह्म की अभिव्यक्ति तथा चेतना का स्वरूप माना गया है तथा सामाजिक आविष्कार से पृथक रखते हुए उसे प्रमाणिक स्रोत से भाषा का स्पष्टीकरण किया गया है।

3. भाषा को दैवी, प्राकृतिक एवं मानवीय चेतना से जोड़ने वाली भारतीय दृष्टि का विश्लेषण करना।
4. पाश्चात्य भाषा-उत्पत्ति सिद्धांतों की तुलना में भारतीय चिंतन की विशेषताओं को स्पष्ट करना।
5. भाषा को संस्कृति, दर्शन और आध्यात्मिक चेतना के संदर्भ में स्थापित करना।

11. निष्कर्ष

प्रस्तुत अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि भारतीय वाङ्मय में भाषा की उत्पत्ति और अर्थ-प्रक्रिया एक गहन दार्शनिक संदर्भ में विकसित हुई है। ध्वनि से लेकर अर्थ और ब्रह्म तक का क्रम भारतीय भाषिक चिंतन की विशिष्टता को प्रदर्शित करता है। यह दृष्टि आधुनिक भाषाविज्ञान के लिए भी वैचारिक चुनौतीपूर्ण स्थिति प्रस्तुत करती है और भाषा को केवल भाषिक संरचना न मानकर चेतना की अभिव्यक्ति के रूप में स्पष्टीकरण का मार्ग प्रशस्त करती है। वैदिक काल से आधुनिक युग तक भाषाओं का विकास निरंतर सामाजिक परिवर्तनों के साथ जुड़ा रहा है। भारतीय वाङ्मय में भाषा की उत्पत्ति का विचार अत्यंत सूक्ष्म और गहन रूप मे विकसित है। ध्वनि से लेकर अर्थ तक की यात्रा व्याकरणिक नहीं दार्शनिक है। वेदों की वाक्, उपनिषदों का शब्द-ब्रह्म, पाणिनि का व्याकरण और भर्तृहरि का स्फोट सिद्धांत यह सभी मिलकर सिद्ध करते हैं कि भारतीय परंपरा में भाषा को सृष्टि और चेतना का मूल तत्त्व माना गया है। भारतीय वाङ्मय में भाषा की उत्पत्ति को दैवी और आध्यात्मिक आधार पर समझा गया है। भाषा को ब्रह्म की अभिव्यक्ति तथा चेतना का स्वरूप माना गया है तथा सामाजिक आविष्कार से पृथक रखते हुए उसे प्रमाणिक स्रोत से भाषा का स्पष्टीकरण किया गया है। ऋग्वेद और उपनिषदों में वाक् को सृष्टि की मूल शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। पाणिनीय व्याकरण परंपरा भाषा के वैज्ञानिक विश्लेषण का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करती है। भारतीय दृष्टिकोण भाषा को संस्कृति, दर्शन और मानव चेतना के साथ परस्पर जोड़ता है। इस प्रकार भारतीय वाङ्मय में भाषा की उत्पत्ति संबंधी विचार अत्यंत समृद्ध, बहुआयामी और आधुनिक भाषाविज्ञान के लिए भी प्रासंगिक दिखाई पड़ते हैं।

ग्रंथ सूची

- ऋग्वेद
- आचार्य, रामचन्द्र शुक्ल, (2012), हिन्दी साहित्य का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन।
- आनन्दवर्धन, (2008), ध्वन्यालोक (हिन्दी अनुवाद), चौखम्बा विद्या भवन।
- आचार्य, सत्यदेव, (2015), भाषा और भाषाविज्ञान, राजकमल प्रकाशन।
- कापटिया, प्रेमशंकर, (2010), भारतीय भाषाचिन्तन, साहित्य अकादमी।
- द्विवेदी, हजारीप्रसाद, (2006), भारतीय साहित्य की भूमिका, राजकमल प्रकाशन।
- पाणिनि, (2011), अष्टाध्यायी (हिन्दी टीका सहित), चौखम्बा संस्कृत संस्थान।
- यास्क, (2009), निरुक्त (हिन्दी अनुवाद), चौखम्बा ओरिएंटालिया।
- राधाकृष्णन, सर्वपल्ली, (2014), भारतीय दर्शन (खंड 1–2), राजपाल एंड सन्स।
- शर्मा, कपिलदेव, (2013), भाषा की उत्पत्ति और विकास, वाणी प्रकाशन।
- शुक्ल, बद्रीनाथ, (2011), वैदिक वाङ्मय और भाषाचिन्तन, हिन्दी समिति सूचना विभाग।

आशुतोष उपमन
पी.एच.डी. शिक्षाशास्त्र विद्या शाखा
केंद्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय जयपुर
Upmanashutosh@gmail.com
Mob. No.- 9782909970

भारिया जनजाति : उत्पत्ति कथाएँ

टीकमणि पटवारी

भारतीय लोकजीवन केवल जनसामान्य की दैनिक गतिविधियों का संकलन मात्र नहीं है, बल्कि वह समाज की सामूहिक चेतना, जीवन-दृष्टि और सांस्कृतिक स्मृति का जीवंत रूप है। लोक शब्द अपने भीतर परंपरा, विश्वास, रीति-रिवाज, खान-पान, वेश-भूषा, बोली-बानी, कला, आस्था और सामूहिक अनुभवों को समाहित करता है। लोकजीवन की यह विशेषता है कि वह जीवन को सहज, स्वाभाविक और सामूहिक रूप में जीता है, जहाँ व्यक्ति की पहचान समाज और प्रकृति के साथ उसके संबंधों से निर्मित होती है।

लोक समाज में भौतिक और आध्यात्मिक—दोनों ही आयाम एक-दूसरे से पृथक नहीं होते। प्रकृति के सान्निध्य में रहने वाला मानव अपने अनुभवों को कथा, गीत, मिथक और दंतकथाओं के रूप में व्यक्त करता है। यही वाचिक परंपरा लोककथाओं का संसार रचती है, जिसमें न केवल जीवन के अनुभव सुरक्षित रहते हैं, बल्कि समुदाय की उत्पत्ति, उसका अतीत और उसकी पहचान भी संरक्षित होती है।

पृथ्वी पर जीवन का आरंभ कैसे हुआ, मनुष्य की उत्पत्ति किस प्रकार हुई—इस प्रकार की जिज्ञासा मानव समाज में सदा से विद्यमान रही है। प्रत्येक समुदाय ने अपने अस्तित्व को समझने और उसे स्थायित्व प्रदान करने के लिए यह जानने का प्रयास किया कि वह कब, कैसे और किन परिस्थितियों में उत्पन्न हुआ। इन्हीं प्रश्नों के उत्तर खोजते हुए समुदायों ने मिथकों, दंतकथाओं और लोकमान्यताओं के माध्यम से अपनी उत्पत्ति की व्याख्या की।

भारतीय जनजातीय समाजों में यह प्रवृत्ति विशेष रूप से स्पष्ट दिखाई देती है। जनजातियाँ लिखित इतिहास के अभाव में अपनी स्मृतियों और अनुभवों को लोककथाओं के माध्यम से सुरक्षित रखती हैं। इन्हीं जनजातीय समुदायों में एक महत्वपूर्ण समुदाय है—भारिया जनजाति। भारिया समाज की उत्पत्ति कथाएँ आज भी उनके सामाजिक जीवन, धार्मिक आस्थाओं और सांस्कृतिक पहचान में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं।

भारिया जनजाति की उत्पत्ति कथाओं के माध्यम से न केवल उनके नामकरण की प्रक्रिया स्पष्ट होती है, बल्कि उनके प्रकृति-केन्द्रित जीवन-दर्शन, अन्य जनजातियों से संबंध और पौराणिक परंपराओं से उनका जुड़ाव भी सामने आता है। इन कथाओं का अध्ययन भारिया समाज के आत्मबोध और सांस्कृतिक निरंतरता को समझने की दृष्टि से अत्यंत आवश्यक है।

भस्मासुर, भगवान शंकर और पातालकोट की पौराणिक कथा

भारिया जनजाति की उत्पत्ति से संबंधित सबसे प्रमुख और व्यापक रूप से प्रचलित कथा भस्मासुर और भगवान शंकर से जुड़ी हुई है। इस पौराणिक कथा के अनुसार भस्मासुर नामक राक्षस ने कठोर तपस्या कर भगवान शंकर को प्रसन्न किया और उनसे यह वरदान प्राप्त किया कि वह जिसके भी सिर पर हाथ रखेगा, वह तत्काल भस्म हो जाएगा।

वरदान प्राप्त करने के बाद भस्मासुर का अहंकार बढ़ गया और उसने उसी शक्ति का प्रयोग भगवान शंकर पर करने का प्रयास किया। इस संकटपूर्ण स्थिति में भगवान शंकर उससे बचने के लिए दौड़ पड़े और अंततः पातालकोट क्षेत्र तक पहुँचे। लोकमान्यता के अनुसार पातालकोट भारिया जनजाति का प्राचीन निवास क्षेत्र रहा है।

कथा के अनुसार पातालकोट में निवास करने वाले भारिया लोगों ने भगवान शंकर को अपने बीच छिपाकर उनकी रक्षा की। यह प्रसंग भारिया समाज को शिव-भक्त, आश्रयदाता और रक्षक के रूप में प्रस्तुत करता है। जब भस्मासुर को यह ज्ञात हुआ कि भारिया लोगों ने भगवान शंकर को छिपाया है, तो वह अत्यंत क्रोधित होकर उन्हें भस्म करने के लिए पातालकोट पहुँचा।

भस्मासुर के भय से भारिया लोग 'भुरभुरा' नामक घास में छिप गए। इसी कारण उन्हें 'भरिया' कहा जाने लगा, जो कालांतर में 'भारिया' के रूप में प्रचलित हुआ। इस कथा में घास, जंगल और छिपने का प्रसंग भारिया समाज के आरण्यक जीवन और प्रकृति-आधारित अस्तित्व को प्रतीकात्मक रूप से व्यक्त करता है।

इसी कथा का एक अन्य रूप यह भी है कि भारिया लोग सुदूर वनों में निवास करते थे। प्रसव के समय खुले वन-प्रदेश में रहना कठिन होने के कारण भुरभुरा घास की आड़ में बच्चों का जन्म हुआ। इसी कारण उन्हें पहले 'भुरिया' और आगे चलकर 'भारिया' कहा गया। यह कथा भारिया समाज के नामकरण को सीधे प्रकृति और वन जीवन से जोड़ती है।

महाभारत काल और अर्जुन से जुड़ी उत्पत्ति कथा

भारिया जनजाति की दूसरी प्रमुख उत्पत्ति कथा महाभारत काल से संबंधित है। लोकमान्यता के अनुसार द्वापर युग में

> भारिया जनजाति की दूसरी प्रमुख उत्पत्ति कथा महाभारत काल से संबंधित है। लोकमान्यता के अनुसार द्वापर युग में जब कुरुक्षेत्र के मैदान में कौरवों और पांडवों के बीच महायुद्ध हो रहा था, तब पांडवों की सेना संख्या में कम थी। इस संकट की घड़ी में अर्जुन ने अपनी मंत्र-शक्ति का प्रयोग किया। कथा के अनुसार अर्जुन ने 'भरु' नामक घास को अभिमंत्रित किया, जिससे सैनिक उत्पन्न हुए। इन सैनिकों ने युद्ध में पांडवों की सहायता की और विजय में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। युद्ध समाप्त होने के पश्चात ये सैनिक विभिन्न क्षेत्रों में बस गए और उनके वंशज आगे चलकर भारिया कहलाए।

जब कुरुक्षेत्र के मैदान में कौरवों और पांडवों के बीच महायुद्ध हो रहा था, तब पांडवों की सेना संख्या में कम थी। इस संकट की घड़ी में अर्जुन ने अपनी मंत्र-शक्ति का प्रयोग किया।

कथा के अनुसार अर्जुन ने 'भरु' नामक घास को अभिमंत्रित किया, जिससे सैनिक उत्पन्न हुए। इन सैनिकों ने युद्ध में पांडवों की सहायता की और विजय में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। युद्ध समाप्त होने के पश्चात ये सैनिक विभिन्न क्षेत्रों में बस गए और उनके वंशज आगे चलकर भारिया कहलाए।

यह कथा भारिया जनजाति को महाभारत की वीर परंपरा से जोड़ती है और उन्हें साहसी, पराक्रमी तथा युद्धकौशल से युक्त समुदाय के रूप में प्रस्तुत करती है। साथ ही, यह कथा घास और प्रकृति को जीवन-उत्पत्ति का स्रोत मानने वाली जनजातीय चेतना को भी प्रकट करती है।

गोंड जनजाति से भ्रातृ संबंध की लोककथाएँ

भारिया जनजाति की उत्पत्ति से जुड़ी तीसरी प्रमुख कथा उन्हें गोंड जनजाति से जोड़ती है। इस लोककथा के अनुसार प्रारंभ में भारिया और गोंड दो सगे भाई थे। एक अवसर पर दोनों पूजा करने जा रहे थे। मार्ग में एक भाई की पत्नी रजस्वला हो गई, जिसके कारण वह और उसका पति पूजा में सम्मिलित नहीं हो सके। पूजा से बाहर रहने के कारण उन्हें 'बाहरिया' कहा गया, जो कालांतर में 'भारिया' बन गया।

इस कथा के माध्यम से भारिया समाज अपने को गोंड समाज का निकट संबंधी मानता है और दोनों समुदायों के बीच भाईचारे की भावना को रेखांकित करता है।

इसी संदर्भ में एक अन्य कथा भी प्रचलित है, जिसमें 'फरिया से भरिया' की कहावत का उल्लेख मिलता है। कथा के अनुसार प्राचीन समय में गोंड ने रंजूक माई की पूजा का आयोजन किया और बोधा (भैंसा) की बलि दी। उसी समय कुछ अनजान अतिथि वहाँ आ गए। बाहरी व्यक्ति द्वारा बलि को देखना अनुचित मानते हुए गोंड ने कटे हुए बोधा पर सफेद फरिया (कपड़ा) ओढ़ा दिया।

अतिथियों के आग्रह पर जब फरिया हटाई गई, तो उसके भीतर से सोलह वर्ष का एक बालक प्रकट हुआ, जिसने हाथ जोड़कर कहा—"मैं गोंडों का छोटा भाई भारिया हूँ।" इसी घटना से 'फरिया से भरिया' की कहावत प्रचलित हुई। लोकमान्यता है कि गोंड और भारिया दोनों के देवता समान हैं, किंतु उनकी पूजा-पद्धतियाँ भिन्न हैं।

भूमि-पूजा और भूमिया से भारिया की अवधारणा

भारिया जनजाति की चौथी महत्वपूर्ण उत्पत्ति मान्यता भूमि-पूजा से संबंधित है। इस मान्यता के अनुसार भूमि की पूजा करने के कारण उन्हें 'भूमिया' कहा गया, जो कालांतर में 'भारिया' कहलाए। लोककथा के अनुसार भगवान शंकर ने सर्वप्रथम भूमि की रचना की और उसके बाद नदी, पर्वत, पशु-पक्षी और वनस्पति जगत का सृजन किया।

इसके पश्चात भगवान ने एक पुरुष और एक स्त्री की रचना की। उनसे उत्पन्न संतानों में से कुछ ने नदी की पूजा की, कुछ ने पर्वत की और कुछ ने वनस्पति की। जिस संतान ने धरती अर्थात भूमि की पूजा की, वह 'भूमिया' कहलाया। यही भूमिया आगे चलकर भारिया जनजाति के रूप में पहचाने गए।

यह कथा भारिया समाज को भूमि-केन्द्रित, कृषि और प्रकृति-निष्ठ समुदाय के रूप में प्रस्तुत करती है तथा उनकी पहचान को धरती से जोड़ती है।

इस प्रकार भारिया जनजाति की उत्पत्ति कथाएँ पौराणिक आख्यानों, लोकमान्यताओं और प्रकृति-आधारित विश्वासों का व्यापक समन्वय प्रस्तुत करती हैं। ये कथाएँ केवल अतीत की स्मृतियाँ नहीं हैं, बल्कि भारिया समाज की आत्मपहचान, सामाजिक संरचना और सांस्कृतिक निरंतरता का आधार हैं। देवताओं, प्रकृति, पौराणिक परंपराओं और अन्य जनजातीय समुदायों से जुड़े रहकर भारिया जनजाति ने अपने अस्तित्व को अर्थपूर्ण और सांस्कृतिक रूप से सुदृढ़ बनाया है। उनकी उत्पत्ति कथाएँ यह स्पष्ट करती हैं कि भारिया समाज स्वयं को एक आदिम, प्रकृति-निष्ठ और ऐतिहासिक रूप से गौरवपूर्ण समुदाय के रूप में देखता है।

टीकमणि पटवारी
सहायक प्राध्यापक, हिंदी
प्रधानमंत्री कॉलेज ऑफ़ एक्सीलेंस
शास. स्वशासी स्नातकोत्तर
महाविद्यालय छिंदवाड़ा

महासू देवता : एक न्यायाधीश

श्रीमती रेखा खत्री रौथाण

लोक संस्कृत भाषा से आया हुआ शब्द है जिसका संबंध आम लोगों के उस समाज से है जो परंपराओं व रिवाजों का पालन करते हुए अपना जीवन यापन करते हैं। 'लोक' विशेष संस्कृति, रीति-रिवाजों, विश्वासों और परंपराओं का वाहक होता है। जहाँ विकसित व शिक्षित समाज निपुणता का चोला धारण कर एक कृत्रिम जीवन जीता है, वहीं 'लोक' प्रकृति के साथ चलता हुआ सहजता से बहते हुए एक खूबसूरत झरने की भांति जीवंतता से भरा जीवन जीता है, जिसके सुन्दर किलोल मारते जीवनरूपी झरने में विभिन्न रीति-रिवाज, ज्ञान व परंपराएँ हैं, जिन्हें वह मौखिक रूप से पीढ़ी-दर-पीढ़ी आगे हस्तांतरित करता जाता है।

लोक के व्यवहारिक अनुभवों पर आधारित ये ज्ञान, परंपराएँ, लोक की उत्पत्ति की गाथाएँ लोक-कला, व लोक-साहित्य कहलाता है। अतः कहा जा सकता है कि 'लोक' एक व्यापक अवधारणा है जो सहज, पारंपरिक और जनसामान्य के अनुभवों से जुड़ी दुनिया, समाज व संस्कृति को दर्शाती है फिर चाहे वह ब्रह्मांडीय हो या सांस्कृतिक। साहित्यकार हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार- "लोक शब्द का अर्थ 'जनपद' या 'ग्राम्य' नहीं है बल्कि नगरों और गाँवों में फैली हुई वह समूची जनता है जिनके व्यवहारिक ज्ञान का आधार पोथियां नहीं हैं। ये लोग नगर में परिष्कृत, रुचि संपन्न तथा सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा अधिक सरल और अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं।...." इसी अकृत्रिम लोक में फैली हैं उत्पत्ति और सर्जना की अनेक कथाएँ जिनमें देव जगत की उत्पत्ति की कथाएं भी हैं। अकृत्रिम व भोले लोक पर जब कभी ऐसी विपत्तियाँ आयीं जिनसे पार पाना उसे असंभव लगा तो भोले लोक ने मदद के लिए देवताओं को पुकारा, बुलाया व इनको अपनी भूमि में प्रतिष्ठित किया। इन देवों की उत्पत्ति की गाथा पीढ़ी-दर-पीढ़ी का सफर तय करते हुए लोक में आज भी वैसे ही प्रतिष्ठित हैं जैसे कि सदियों पहले उसके द्वारा प्रतिष्ठित देवता। ऐसे ही कृपानिधान देव हैं जनजातीय क्षेत्र जौनसार-बावर के महासू देवता, जिन्हें न्याय का देवता भी कहा जाता है।

जौनसार-बावर

देहरादून का जनजातीय क्षेत्र जौनसार-बावर देहरादून जिले के उत्तर पश्चिम में हिमाचल प्रदेश की सीमा पर, यमुना व टोंस नदियों के बीच स्थित एक पहाड़ी घाटी है जिसमें चकराता, कालसी व त्यूनी तीन तहसीलें हैं। यह लगभग 1002 वर्ग किमी में फैला है जिसमें 400 गांव हैं व 2011 की जनगणना के अनुसार इसकी जनसंख्या लगभग 88,664 है। इसका प्रवेश द्वार कालसी है तथा मुख्य केन्द्र प्रसिद्ध हिलस्टेशन चकराता है। देहरादून शहर से चकराता की दूरी 90 किमी है। जौनसारी जनजाति आधुनिक जीवन शैली व शिक्षा-व्यवस्था अपनाते हुए भी अपनी परंपराओं व संस्कृति को जीवित रखे हुए हैं।

महासू देवता की उत्पत्ति की लोक कथा

महासू देवता, जौनसार-बावर के कुल देवता, भूमि देवता हैं। इनका मुख्य मंदिर टोंस नदी के पूर्वी तट पर चकराता से लगभग 90 किमी दूर हनोल गांव में स्थित है। महासू देवता की उत्पत्ति के बारे में स्थानीय निवासी व प्रसिद्ध रंगकर्मी नंदलाल भारती बताते हैं कि 'हमने अपने पुरखों व पित्रों से सुना है कि महासू देवता को जौनसार-बावर में लाने वाला हूणा भाट नामक गरीब ब्राह्मण है।

हूणा भाट मैन्द्रथ गाँव निवासी था। उस गांव में उस समय किरमिर नामक दानव का आतंक था। यह दानव नरबलि लेता था, जिसमें गांव के अन्य लोगों के साथ हूणा भाट दंपति के 6 पुत्र भी इसका निवाला बन चुके थे। हूणा भाट का अब सिर्फ एक ही बेटा जीवित बचा था जो कभी भी किरमिर दानव का निवाला बन सकता था। हूणा भाट व उसकी पत्नी अपने अंतिम पुत्र को खोने के डर से बड़े दुःखी व भयग्रस्त रहते थे। एक दिन जब हूणा भाट की पत्नी पानी भरने जलाशय पर गयी तो तालाब से एक अदृश्य वाणी उसे सुनाई दी कि 'अगर अपने बेटे व गांववालों को बचाना चाहती हो तो कश्मीर जाकर चार महासू को यहाँ पर बुलाओ, वही तुम्हारे पुत्र व क्षेत्र को बचा सकते हैं'।

हूणा भाट की पत्नी भयमिश्रित आश्चर्य में घर आती है व हूणा भाट को इस बारे में बताती है। हूणा भाट को विश्वास नहीं होता है और बात आयी-गयी हो जाती है। एक दिन सपने में हूणा भाट को ऐसी ही वाणी सुनायी देती है, असमंजस में पड़े दंपति जब इस बात को गांव वालों से बताते हैं तो उनकी हंसी उड़ायी जाती है, एक दिन हूणा भाट निश्चित करता है कि भय व चिंताग्रस्त होने के बजाय उसे कश्मीर जाना ही चाहिये। किरमिर दानव से मुक्ति की उम्मीद में वह कश्मीर के लिए चल पड़ता है। चूंकि उस समय यातायात की व्यवस्था तो थी नहीं, ना ही हूणा भाट किसी राजपरिवार से था जो कि उसके पास घोड़ा होता? पुत्र प्रेम में गरीब हूणा भाट पैदल ही कश्मीर के लिए चल पड़ा। नदी, नाले, जंगल, पहाड़, बीहड़ पार करते हुए वह महीनों की यात्रा करके कश्मीर पहुंचा। कश्मीर में चार

> 'कहाँ से पधारे महाराज' ये सुनते ही सरल हृदय हूणा भाट ने अपनी आपबीती व आने का प्रयोजन शेरकुड़िया वीर को बताया। उसकी दारुण कथा सुनकर शेरकुड़िया वीर ने उसे तालाब के निकट अंगीरा वीर के मंदिर के पीछे छिपा दिया और कहा कि जैसे ही चार भाई महासू तालाब से बाहर निकलेंगे तुम अन्त में निकलने वाले महासू के चरण पकड़ लेना और स्वंय वापस तालाब में चले गये उन्होंने महासू भाईयों को बताया कि बाहर सब सामान्य है लेकिन महासू भाईयों को विश्वास नहीं हुआ तो वीर ने कहा कि खुद जाकर पता कर लें। चार भाई महासू बाहर आये तो हूणा भाट ने निर्देशानुसार अन्त में निकलने वाले चालदा महाराज के चरण पकड़ लिये। चालदा महासू ने जब शरणागत परदेशी का परिचय पूछा तो हूणा भाट ने रोते हुए अपनी व्यथा कही व अपनी इच्छा उन्हें बतायी।

महाराज ने अपनी शक्ति से हूणा भाट को उसी दिन वापस मैन्द्रथ भेज दिया। वापस आने पर हूणा भाट का गाँव में भव्य स्वागत हुआ। गाँव में किरमिर दानव का आतंक बरकरार था। राक्षस के आतंक को देखते हुए भयग्रस्त हूणा भाट ने छठे दिन ही चांदी का हल खेत में लगा दिया। शुभ मुहूर्त न होने कारण अशुभ होना निश्चित था परिणामस्वरूप हल चलाने पर सबसे पहले बासिक महाराज निकले लेकिन हल की फाल से उनकी एक आँख चोटिल हो गयी। दूसरी बार बौठा महाराज आये पर हल की फाल से उनके घुटने पर चोट लगी। तीसरी बार में पबासिक महाराज कान में चोट लेकर बाहर आये। चौथी बार के लिए सातवां दिन शुरु होने के कारण चालदा महाराज सकुशल खेत से बाहर आये। इन चारों भाईयों को देखकर गांव में हर्ष छा गया।

भाई महासू अपने चार वीरों के साथ एक तालाब में रहते थे। जैसे ही हूणा भाट ने चार भाई महासू का सुमिरण करते हुए कश्मीर की धरती पर कदम रखा तो सबसे छोटे भाई चालदा महासू को आभास हो गया कि कोई उन्हें खोजता हुआ आया है। उन्होंने शेरकुड़िया वीर को इस आगन्तुक की खबर लेने भेजा तो शेरकुड़िया वीर इस थके मांदे परदेशी हूणा भाट को देखते ही पहचान गये।

'कहाँ से पधारे महाराज' ये सुनते ही सरल हृदय हूणा भाट ने अपनी आपबीती व आने का प्रयोजन शेरकुड़िया वीर को बताया। उसकी दारुण कथा सुनकर शेरकुड़िया वीर ने उसे तालाब के निकट अंगीरा वीर के मंदिर के पीछे छिपा दिया और कहा कि जैसे ही चार भाई महासू तालाब से बाहर निकलेंगे तुम अन्त में निकलने वाले महासू के चरण पकड़ लेना और स्वंय वापस तालाब में चले गये उन्होंने महासू भाईयों को बताया कि बाहर सब सामान्य है लेकिन महासू भाईयों को विश्वास नहीं हुआ तो वीर ने कहा कि खुद जाकर पता कर लें। चार भाई महासू बाहर आये तो हूणा भाट ने निर्देशानुसार अन्त में निकलने वाले चालदा महाराज के चरण पकड़ लिये। चालदा महासू ने जब शरणागत परदेशी का परिचय पूछा तो हूणा भाट ने रोते हुए अपनी व्यथा कही व अपनी इच्छा उन्हें बतायी। हूणा भाट की कथा सुनकर महासू भाईयों का हृदय द्रवित हो गया। उन्होंने कहा कि हम जरूर चलेंगें पर अभी उचित मुहूर्त नहीं है। उचित मुहूर्त आज से ठीक सात दिन बाद है, अभी तुम जाओ और सातवें दिन सोने की फाल लगे चांदी के हल व दुधमुहें बछड़ों के साथ अपना खेत जोतना तो हम वहाँ पर प्रकट हो जायेगें।

शेरकुड़िया महाराज ने अपनी शक्ति से हूणा भाट को उसी दिन वापस मैन्द्रथ भेज दिया। वापस आने पर हूणा भाट का गाँव में भव्य स्वागत हुआ। गाँव में किरमिर दानव का आतंक बरकरार था। राक्षस के आतंक को देखते हुए भयग्रस्त हूणा भाट ने छठे दिन ही चांदी का हल खेत में लगा दिया। शुभ मुहूर्त न होने कारण अशुभ होना निश्चित था परिणामस्वरूप हल चलाने पर सबसे पहले बासिक महाराज निकले लेकिन हल की फाल से उनकी एक आँख चोटिल हो गयी। दूसरी बार बौठा महाराज आये पर हल की फाल से उनके घुटने पर चोट लगी। तीसरी बार में पबासिक महाराज कान में चोट लेकर बाहर आये। चौथी बार के लिए सातवां दिन शुरु होने के कारण चालदा महाराज सकुशल खेत से बाहर आये। इन चारों भाईयों को देखकर गांव में हर्ष छा गया। इन चार भाई महासू व उनके चार वीरों ने किरमिर दानव का अंत किया और जौनसार-बावर, उससे लगे हिमाचल व उत्तरकाशी क्षेत्र के लोगों को इस दानव के आतंक से मुक्त करके न्याय दिया। तब लोगों के अनुरोध पर ये चार भाई महासू यहीं बस गये। तब से लेकर आजतक जौनसार-बावर,हिमाचल, उत्तरकाशी के सीमांत क्षेत्र के व अब तो देश के कोने-कोने से श्रद्धालु हनोल में न्याय की उम्मीद लेकर आते हैं और न्याय पाकर जाते हैं। आज भी चाहे असाध्य बीमारी हो या आपसी झगड़ा, कोर्ट कचहरी या फिर अपनी संतति के अच्छे भविष्य की इच्छा, लोग श्रद्धा से हनोल स्थित महासू के दरबार में खाली हाथ आते हैं और भरी झोली लेकर जाते हैं।

चारों महासू के जौनसार-बावर में मंदिर

चार भाई महासू में सबसे बड़े बासिक महाराज हैं, इनका मंदिर हनोल से 9 किमी पहले मैन्द्रथ गाँव में है। हनोल स्थित मंदिर चारों भाईयों का मुख्य मंदिर है परन्तु इस मंदिर में मुख्य रूप से दूसरे भाई बौठा महाराज की पूजा होती है।तीसरे भाई पबासिक महाराज का मंदिर हनोल से तीन किमी दूर बंगाण क्षेत्र (उत्तरकाशी जिला) क्षेत्र के ठडियार गाँव में है। सबसे छोटे चालदा महाराज एक जगह स्थिर न रहकर 12 साल जौनसार-बावर के गांवों में व 12 साल हिमाचल के गांवों में प्रवास करते हैं, अर्थात वह हर 12 साल के अन्तराल पर जौनसार-बावर व हिमाचल के गांवों में प्रवास करते हैं। अभी 14 दिसंबर 2025 को चालदा महाराज जौनसार-बावर के दसऊ गांव से हिमाचल के पश्मी गांव विराजे। बौठा महासू के मंदिर जौनसार-बावर के अन्य गांवों जैसे टुंगरा गाँव, लखवाड़ गाँव, थैना गाँव आदि में भी स्थापित किये गये हैं। अभी कुछ दशक पहले तक श्रद्धालु मनोकामना सिद्ध होने पर हनोल मंदिर में बकरे की बलि चढ़ाते थे लेकिन अब बलि प्रथा समाप्त होने पर बकरे हनोल मंदिर के प्रांगण में छोड़ दिये जाते हैं। वे बकरे मंदिर प्रांगण में ही घूमते हैं और वहीं आस-पास के खेत चरते हुए समय आने पर एक प्राकृतिक मृत्यु को प्राप्त होते हैं। इन बकरों को महाराज जी का 'घंडुवा' कहा जाता है। चालदा महाराज कब, किस गांव में प्रवास करेंगें ये भी उनका घंडुवा ही निर्धारित करता है। जिस भी गांव में महाराज की प्रवास की इच्छा होती है उस गांव के मंदिर में अचानक एक बकरा निवास करने लगता है। बकरा कहाँ से व कब आया ये किसी को पता नहीं चलता।

महासू महाराज तक पहुँचने के रास्ते

न्याय के देवता महासू महाराज के दर हनोल तक पहुँचने के लिए देहरादून शहर से तीन सड़क मार्ग हैं। पहला 188 किमी लंबा मार्ग देहरादून,विकासनगर, चकराता व त्यूणी होते हुए हनोल तक जाता है। दूसरा देहरादून,मसूरी,नैनबाग,पुरोला व मोरी होते हुए हनोल पहुँचता है जिसकी लंबाई 1-5 किमी है, जबकि तीसरा 1-8 किमी लंबा मार्ग देहरादून से विकासनगर,छिबरो डैम, क्वानू, मीनस, अटाल व त्यूनी होते हुए हनोल तक है।

भीम के कंचे

महासू मंदिर के हनोल परिसर में सीसे के दो गोले मौजूद हैं। कहा जाता है कि इनमें से एक गोले का वजन छ: मण व दूसरे गोले का वजन नौ मण है। लोक विश्वास है कि जिनका हृदय निर्मल होता है वे इन गोलों को आसानी से उठा लेते हैं। भक्त इन गोलों पर काफी जोर आजमाइश करते हैं। इन गोलों के बारे में मान्यता है कि अज्ञातवास के दौरान पांडव यहाँ आये थे तो भीम इन गोलों से कंचे खेलते थे। पांडवों के जौनसार-बावर में प्रवास को लेकर जब 200- में व दिसंबर 2025 में इस आलेख की लेखिका द्वारा लांगा पोखरी (चकराता) आवासीय विद्यालय के इतिहास के शिक्षक दत्तात्रेय मिश्रा से पूछा तो उन्होंने कहा कि "स्थानीय लोगों की ऐसी मान्यता है लेकिन पौराणिक व ऐतिहासिक रूप से ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता"। जबकि यहां के लोग खुद को पांडवों का वंशज मानते हैं। उनका मानना है कि जौनसार के लोग पांडवों के वंशज हैं जिन्हें 'पाशि' कहा जाता है जबकि बावर के लोग दुर्योधन के वंशज है जिन्हें 'षाठी' कहा जाता है।

लोक विश्वास है कि जिनका हृदय निर्मल होता है वे इन गोलों को आसानी से उठा लेते हैं। भक्त इन गोलों पर काफी जोर आजमाइश करते हैं। इन गोलों के बारे में मान्यता है कि अज्ञातवास के दौरान पांडव यहाँ आये थे तो भीम इन गोलों से कंचे खेलते थे। पांडवों के जौनसार-बावर में प्रवास को लेकर जब 200- में व दिसंबर 2025 में इस आलेख की लेखिका द्वारा लांगा पोखरी (चकराता) आवासीय विद्यालय के इतिहास के शिक्षक दत्तात्रेय मिश्रा से पूछा तो उन्होंने कहा कि "स्थानीय लोगों की ऐसी मान्यता है लेकिन पौराणिक व ऐतिहासिक रूप से ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता"।

मंदिर के चार दरवाजे

महासू मंदिर के प्रवेश द्वार से लेकर गर्भगृह तक चार दरवाजे हैं। प्रवेश द्वार की छत पर नवग्रह की कलाकृति बनी हैं। पहले व दूसरे द्वार पर माला स्वरूप, विभिन्न देवी-देवताओं की कला-कृतियां पिरोयी गयी हैं। दूसरे द्वार पर मंदिर के बाजगी ढोल-नगाड़े के साथ पूजा-पाठ में सहयोग करते हैं। तीसरे द्वार पर श्रद्धालु मत्था टेकते हैं। अंतिम द्वार से गर्भगृह में केवल पूजा के समय सिर्फ पुजारी को ही जाने की छूट है।

मंदिर में रात लगाना

मंदिर में चारों पहर नौबत बजती है। श्रद्धालु अपनी मनोकामना की पूर्ति हेतु मंदिर के प्रथम दरवाजे के अन्दर रात्रि बिताते हैं। स्थानीय भाषा में इसे 'रात लगाना' कहते हैं। इसमें श्रद्धालु रात्रि के भोजन उपरांत प्रथम दरवाजे के अन्दर के कक्ष में ही रहकर, रात के 10 बजे की पूजा के पश्चात्, जिसे कि देवशयन कहा जाता है, रात्रि शयन करते हैं। इसी कक्ष में बाजगी भी अपने ढोल सहित रहते हैं। सुबह 4 बजे बाजगी व पुजारी मिलकर पूजा करते हैं उसी पूजा में श्रद्धालु अपने ही शयन स्थान पर बैठकर, शामिल होते हैं। ये पूरी प्रक्रिया 'रात लगाना' कहलाती है। माना जाता है कि 'रात लगाने' से सभी मनोकामनाएं पूर्ण होती हैं।

चार भाई महासू के चार वीर

चारों भाई महासू के चार वीर भी हैं। इनमें बासिक महाराज के 'काफलावीर', पबासिक महासू के 'गुडारु वीर', बौठा महासू के 'कैलावीर' व चालदा महासू के 'शेरकुड़ीया वीर' हैं। चारों वीरों के जौनसार-बावर में छोटे-छोटे मंदिर हैं।

अब कुछ पढ़े-लिखे लोग 'महासू' को 'महाशिव' का अपभ्रंश मानते हैं लेकिन सहज,सरल लोक के लिए आज भी सिर्फ ये छत्रधारी महासू महाराज हैं जो उनकी विपदा हरते हैं, न्याय दिलाते हैं और इस जीवन की कठिनाइयों में उनका एकमात्र सहारा हैं।

ग्रंथ सूची

- स्थानीय निवासी व प्रसिद्ध रंगकर्मी डा. नंदलाल भारती से साक्षात्कार।
- स्थानीय निवासी व गृहणी श्री ललिता देवी से साक्षात्कार।
- शिक्षाविद् दत्तात्रेय मिश्रा से साक्षात्कार।
- दैनिक जागरण अखबार में छपे आलेख।

श्रीमती रेखा खत्री रौथाण
देहरादून, उत्तराखंड
Email- rekha.k.rauthan@gmail.com
M.b.-886592593

लोक में उत्पत्ति और सर्जना

हर्षुल रघुवंशी

लोक शब्द का अर्थ अत्यंत व्यापक है। 'लोक' केवल ग्रामीण समाज तक सीमित नहीं, बल्कि वह समस्त समाज है जो परंपरा, अनुभव और सामूहिक चेतना के आधार पर अपने जीवन मूल्यों का निर्माण करता है। लोक में उत्पत्ति और सर्जना की प्रक्रिया को समझने के लिए लोक जीवन की संरचना, उसकी मानसिकता और उसकी सामाजिक परिस्थितियों को समझना आवश्यक है।

लोक में उत्पत्ति का संबंध मानव की मूलभूत आवश्यकताओं से जुड़ा हुआ है। आदिम मानव जब प्रकृति के साथ संघर्ष कर रहा था, तब उसने अपने भय, आशा, विश्वास और अनुभवों को अभिव्यक्त करने के लिए प्रतीकों, कथाओं और गीतों का सहारा लिया। यही लोक सर्जना की प्रारंभिक अवस्था थी। लोक की उत्पत्ति किसी नियोजित रचना प्रक्रिया का परिणाम नहीं, बल्कि सहज और स्वाभाविक जीवन प्रतिक्रिया है। जब मानव ने भाषा सीखी, तब उसकी अनुभूतियाँ कथाओं, मिथकों, लोकगीतों और अनुष्ठानों के रूप में व्यक्त होने लगीं।लोक सर्जना का आधार सामूहिकता है। इसमें रचनाकार का नाम गौण हो जाता है और रचना समाज की संपत्ति बन जाती है। यही कारण है कि लोक साहित्य का कोई निश्चित रचनाकार नहीं होता। लोक में सर्जना एक निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है, जिसमें पीढ़ी दर पीढ़ी परिवर्तन, परिष्कार और संवर्द्धन होता रहता है। लोकगीत, लोककथाएँ, लोकनाट्य, लोकनृत्य और लोकविश्वास इसी सामूहिक सर्जनात्मक चेतना के प्रतिफल हैं।

लोक में सर्जना का एक महत्वपूर्ण पक्ष उसका जीवनोपयोगी होना है। लोक की रचनाएँ जीवन के किसी न किसी पक्ष से प्रत्यक्ष रूप से जुड़ी होती हैं - जन्म, विवाह, कृषि, ऋतु परिवर्तन, पर्व-त्योहार, श्रम, दुःख-सुख आदि। लोकगीत खेतों में काम करते समय, जंगलों में लकड़ी काटते हुए या घर के कामकाज के दौरान सहज रूप से जन्म लेते हैं। ये गीत केवल मनोरंजन का साधन नहीं, बल्कि श्रम की थकान कम करने, सामूहिकता को मजबूत करने और जीवन को सहज बनाने का माध्यम हैं। लोक में उत्पत्ति का संबंध धार्मिक और आध्यात्मिक चेतना से भी जुड़ा हुआ है। लोक देवता, ग्राम देवियाँ, प्रकृति पूजन और लोक विश्वास लोक की सर्जनात्मक शक्ति के उदाहरण हैं। लोक ने अपनी आस्थाओं के माध्यम से सृष्टि की व्याख्या की। सूर्य, चंद्रमा, पृथ्वी, नदी, पर्वत सब लोक चेतना में देवत्व से युक्त हैं। लोक कथाओं में सृष्टि की उत्पत्ति, मानव जीवन की रचना और नैतिक मूल्यों की स्थापना के अनेक रूप मिलते हैं।

यह जानकर राजा ने उस स्त्री को छप्पन भोग हेतु महल में आमंत्रित किया, उसे भोजन दिया वह भोजन लेकर घर आई, भोजन घर में रख दिया। इसी बीच उसे कहीं से जचकी (प्रसव) का बुलावा आता है, वह भोजन रख कर चली जाती है। वहां कुटिया में कुत्ता प्रवेश कर उस भोजन को जूठा कर नष्ट कर देता है। वह स्त्री भूखी रह जाती है। दूसरे दिन राजा के सामने आते ही वह थूकती है, राजा से कहती है कि आपके दर्शन होने पर फिर मुझे भूखा रहना पड़ा।

बसदेवा समुदाय में संसार की उत्पत्ति की कथा गायी जाती है कि प्रलय के बाद जब जल से धरती निकली, उस पर सर्वप्रथम एक कन्या उत्पन्न हुई, उस कन्या ने धरती मैया से कहा कि मैया मुझे तो तुमने उत्पन्न कर दिया पर मेरा कोई जोड़ीदार नहीं है, मैं कैसे संसार बनाऊंगी, संसार बनाने के लिए मेरा कोई जोड़ीदार होना चाहिए। तब घरती मैया ने ब्रह्मा, विष्णु, महेश को प्रकट किया। पहला फफोला फोड़ा उसमें से ब्रह्मा जी उत्पन्न हुए उन्होंने संसार की रचना की। भगवान माया फैलाकर संसार रचते चले, अलग-अलग प्राणी बनाएँ और संसार बना। विष्णु जी ने संसार का पालन किया. शिवजी ने संहार कर्ता के रूप में सृष्टि को पोषित किया।

प्रथम भये ब्रह्मा जी दूसर में विष्णु अवतार तीजे में शिव शंकर जी
तीजे में हठ पड़ गई कन्या, पार खेले देव महादेव मेरे साथ रे।

संसार की उत्पत्ति की कथा के पश्चात राम कथा प्रारंभ होती है। राजा दशरथ अयोध्या के राजा थे उस नगरी में एक भंगन (मेहतरानी) स्त्री रहती थी वह नगरी से गुजरती थी जब राजा के दर्शन करती, उसे उस दिन भोजन नहीं मिलता था। जब भी राजा उसके सामने से जाते तो वह थूक देती थी। जब अनेक बार ऐसा ही होता रहा, राजा दशरथ ने उस स्त्री से पूछा मुझे देखकर थूकती क्यों हो? उस स्त्री ने उत्तर दिया कि जब भी आप के दर्शन होतेहैं उस दिन मुझे भोजन नहीं मिलता, यह जानकर राजा ने उस स्त्री को छप्पन भोग हेतु महल में आमंत्रित किया, उसे भोजन दिया वह भोजन लेकर घर आई, भोजन घर में रख दिया। इसी बीच उसे कहीं से जचकी (प्रसव) का बुलावा आता है, वह भोजन रख कर चली जाती है। वहां कुटिया में कुत्ता प्रवेश कर उस भोजन को जूठा कर नष्ट कर देता है। वह स्त्री भूखी रह जाती है। दूसरे दिन राजा के सामने आते ही वह थूकती है, राजा से कहती है कि आपके दर्शन होने पर फिर मुझे भूखा रहना पड़ा। राजा उसे पुनः छप्पन भोग हेतु आमंत्रित करते हैं, कहते हैं कि आज तुम मेरे समक्ष ही भोजन ग्रहण करो, किंतु उसी समय ऊपर से एक चील चोंच में मृत सर्प को दबाकर उड़ रही होती है, वह सर्प उसकी चोंच से छूट कर उस भोजन में गिर जाता है। वह राजा से कहती हैं कि आप बांझ हो (जिसके संतान ना हो) इसलिए आप के दर्शन करने पर मुझे भोजन नहीं मिलता है। राजा दशरथ ने सोचा कि जब इस स्त्री को मेरे दर्शन करने पर भोजन नहीं मिलता है तब मेरे राज्य में इतनी जनता जो मेरा दर्शन करती है भूखे रह जाती होगी यह तो बड़ा पाप है। इस भाव से वह महल त्याग कर जंगल की ओर निकल पड़ते हैं।

"राम रस ऐसा मोरे भाई कोई पिए अमर हो जाए
मीठा-मीठा सब कोई पी गए कड़वा पीए ना कोई
जो कोई प्राणी कड़वा पिए सबसे सबसे मीठा होय
ऊंचा ऊंचा सब कोई चाहे नीचे से ना देखे कोई
जो कोई प्राणी नीचा चाहे सबसे ऊंचा होए
ध्रुव, लव, प्रहलाद पी गए और पी गए रविदास
दास मलूका भर भर पी गए प्रभु मिलन की आस"

दशरथ एक वन, दूसरे, तीसरे वन गए वहाँ देखा कि पूरा वन सूखा हुआ है तब विचार किया कि यहाँ कैसे रहा जा सकता है, फिर भी दृढ़ निश्चय कर वहाँ कुटिया बनाई और रहने लगे। निकट ही एक बावली थी,

प्रतिदिन उसका जल पौधों को सीचने लगे जिससे चारों और हरियाली छा गई, पौधों के फूलों की सुगंध हवा में फैली और तपस्या कर रहे विश्वामित्र ऋषि तक पहुँची। फूलों की सुगंध से उनकी तपस्या भंग हुई और वे उस स्थान पर आए, राजा उन्हें देखकर डरने लगे। विश्वामित्र के कहने पर छुपे हुए राजा ने अपना परिचय दिया। सूखे निर्जन स्थान को हरियाली में बदलने से ऋषि प्रसन्न हुए और कहने लगे कि मांगो जो कुछ मांगना चाहते हो, राजा ने कहा मेरे पास सभी संपदा है पर पुत्र नहीं है। मेरे दर्शन करने पर प्रजा को भोजन नहीं मिलता है अतः मैं दुखी होकर इस वन में आ गया हूं। ऋषि विष्वामित्र ने एक लाठी देकर राजा से कहा हे दंडी इस लाठी को ले जाओ और कुछ ही दूरी पर जो आम का वृक्ष है उसमें फल लगे हैं वहां जाकर केवल एक बार ही लाठी मारना दोबारा नहीं, उससे जितने भी फल गिरेंगे उन्हें लेकर आना। राजा दशरथ ने लाठी मारी तो आम के पांच फल गिरे, उन्होंने सोचा कि मेरी तीन रानियां है और फल पांच गिरे हैं, मैं दूसरी बार लाठी मारता हूं। जैसे ही राजा दशरथ ने दूसरी बार लाठी चलाई तो धरती पर गिरे हुए फल और लाठी वृक्ष में वापस ऊपर जाकर अटक गए। राजा ने वृक्ष पर ऊपर चढ़कर अपने हाथ से फल तोड़ने का प्रयास किया; जैसे ही दशरथ जी ऊपर जाते हैं पूरे फल और लाठी नीचे धरती पर आ गिरते हैं। राजा दशरथ नीचे फल समेटने का प्रयास करते हैं उसी क्षण सारे फल और लाठी पुनः वृक्ष के ऊपर जाकर अटक जाते हैं। ऋषि विश्वामित्र उन्हें कहते हैं कि राजन तुम लोभ में आ गए हो, मैंने तुम्हें लाठी का प्रयोग केवल एक बार करने के लिए कहा था किंतु तुमने लोभवश मेरी बात का अनुसरण नहीं किया। दशरथ जी गुरुदेव के पास लौटते हैं उससे पहले ही वह लाठी और चार फल ऋषि के पास आ जाते हैं, चैथे फल में डंठल लगा रहता है। वह टूटा हुआ डंठल ही वेदमाता कहलाता है। (वेदमाता वह है जो सभी का भाग्य लिखती है) ऋषि प्रसाद स्वरूप फल राजा दशरथ को प्रदान करते हैं और कहते हैं कि यह फल अपनी रानियों को खिला देना।

दशरथ जी आम के फल रानियों को देते हैं। कौशल्या और सुमित्रा फल ग्रहण करती है रानी कैकेई सोचती है कि राजा बारह वर्षों के बाद लौटे हैं, और लाए तो यह खट्टे फल। वह आम के फल को ग्रहण नहीं करती है, महल में आले में रख देती हैं। कुछ समय बाद जब रानी कौशल्या और सुमित्रा के गर्भवती होने की खबर लगती है तब रानी कैकई सोचती है कि हो ना हो यह उन्हीं आम के प्रसाद का चमत्कार है। वह आम फलों को ढूंढती है, जो गुठली स्वरूप ही बचे थे। रानी गुठली पीसकर उसे ग्रहण करती हैं और उन्हें गर्भधारण होता है। तीनों रानियों को देखकर राजा कहते हैं आज तो मुझे तीनों रानियां बड़ी सुंदर दिख रही है और ऐसे समय में भगवान बैकुंठ धाम में हो जैसे पुत्र तीनों माताओं को प्राप्त हुए।

"कौशल्या के भये सिरी राम रे अजुध्या में बाजे बधइयाँ
बाजे बधइयाँ हो बाजे बधइयाँ
कौशल्या के भये सिरी राम रे भये सिरी राम रे
कैकई के भये भरत, सुमित्रा के लछमन शत्रुघन
भैया अवध में बाजे बधइयाँ"

लोक सर्जना की भाषा सरल, सहज और संप्रेषणीय होती है। इसमें अलंकारिकता या शास्त्रीयता का आग्रह नहीं होता। लोक भाषा जनभाषा होती है, जिसमें भावनाओं की सघनता होती है। यही सरलता लोक रचनाओं को कालजयी बनाती है। लोकगीतों और कथाओं में प्रयुक्त प्रतीक जीवन के अनुभवों से जुड़े होते हैं, इसलिए वे समाज के हर वर्ग द्वारा सहज रूप से ग्रहण किए जाते हैं।

लोक सर्जना में प्रकृति की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है। प्रकृति लोक की प्रेरणा स्रोत है। ऋतुओं का आगमन, वर्षा, सूखा, फसल की कटाई ये सभी लोक रचनाओं में प्रतिध्वनित होते हैं। लोकगीतों में वर्षा की कामना, फसल की खुशहाली और प्रकृति के सौंदर्य का चित्रण व्यापक रूप से मिलता है। लोक की सर्जना प्रकृति के साथ सहअस्तित्व का प्रतीक है।

लोक में सर्जना का एक अन्य पक्ष सामाजिक संरचना से जुड़ा हुआ है। जाति व्यवस्था, पारिवारिक संबंध, स्त्री-पुरुष संबंध और सामाजिक नियम लोक कथाओं और गीतों में प्रतिबिंबित होते हैं। लोक सर्जना समाज की विसंगतियों पर भी व्यंग्य करती है और कभी-कभी प्रतिरोध का स्वर भी बनती है। लोक गीतों में स्त्री की पीड़ा, श्रमिक का संघर्ष और सामाजिक अन्याय के विरुद्ध भावनाएँ अभिव्यक्त होती हैं।

लोक सर्जना की निरंतरता उसकी सबसे बड़ी विशेषता है। लोक में कोई रचना स्थिर नहीं रहती। समय, समाज और परिस्थितियों के अनुसार उसमें परिवर्तन होता रहता है। यही परिवर्तन लोक को जीवंत बनाता है। लोक आधुनिकता से भी प्रभावित होता है और अपनी परंपरा को बनाए रखते हुए नए तत्वों को आत्मसात करता है।

आधुनिक समय में लोक सर्जना का महत्व और भी बढ़ गया है। वैश्वीकरण और तकनीकी विकास के दौर में लोक अपनी पहचान बनाए रखने के लिए संघर्ष कर रहा है। ऐसे समय में लोक की उत्पत्ति और सर्जना का अध्ययन सांस्कृतिक संरक्षण की दृष्टि से अत्यंत आवश्यक है। लोक हमें अपनी जड़ों से जोड़ता है और सांस्कृतिक आत्मबोध प्रदान करता है।

निष्कर्ष

लोक में उत्पत्ति और सर्जना मानव जीवन की सहज, स्वाभाविक और सामूहिक अभिव्यक्ति है। लोक की सर्जनात्मक चेतना किसी एक व्यक्ति की नहीं, बल्कि पूरे समाज की होती है। लोक सर्जना जीवन से जन्म लेती है और जीवन में ही विलीन हो जाती है। इसकी उत्पत्ति मानव की मूलभूत आवश्यकताओं, प्रकृति के साथ संबंध, सामाजिक संरचना और सांस्कृतिक परंपराओं से होती है। लोक सर्जना जीवनोपयोगी, परिवर्तनशील और कालजयी होती है। आधुनिक समय में लोक का अध्ययन न केवल सांस्कृतिक धरोहर को संरक्षित करने का माध्यम है, बल्कि समाज की आत्मा को समझने का सशक्त साधन भी है। लोक में उत्पत्ति और सर्जना की प्रक्रिया हमें यह सिखाती है कि रचनात्मकता जीवन से अलग नहीं, बल्कि जीवन का ही विस्तार है।

ग्रंथ सूची

- उपाध्याय, डॉ. कृष्णदेव, लोकसाहित्य की भूमिका, राजकमल प्रकाशन दिल्ली।
- पांडे, डॉ भवदेव, लोकपर्व, प्रकाशक सत्यनारायण प्रिंटिंग प्रेस, मीरपुर उत्तर प्रदेश।
- परमार, डॉ. श्याम, भारतीय लोकसाहित्य, राजकमल प्रकाशन दिल्ली।
- पटवारी, डॉ. टीकमणी, रामकथा के विविध संदर्भ एवं पात्र, मंगलम प्रकाशन दिल्ली।

हर्षुल रघुवंशी
शोधार्थी, हिन्दी साहित्य
बरकतउल्ला विश्वविद्यालय, भोपाल (म.प्र.)
संपर्क सूत्र - 6267733011
Email – harsul72@gmail.com

छठ पूजा : उत्पत्ति और लोक चेतना

चंचल ओझा

प्राचीन समय से ही भारत बहु सांस्कृतिक बहुधार्मिक और बहुभाषी राष्ट्र रहा है, जिसमें लोक संस्कृति जनजीवन की आत्मा के रूप में विद्यमान रही है। भारतीय समाज में प्रत्येक धार्मिक समूहों की अपनी मान्यता एवं विश्वास रहे हैं जिनका मूर्त रूप हम त्योहारों के माध्यम से देख सकते हैं। लोक संस्कृति के भीतर त्यौहार केवल धार्मिक अनुष्ठान मात्र नहीं है बल्कि सामूहिक जीवन बोध, सामाजिक एकता, आर्थिक संरचना एवं प्रकृति और मानवीय संबंधों के प्रतीक रहे हैं। भारतीय लोक त्योहारों की उत्पत्ति आस्था या धर्म का विषय न होकर या किसी वर्ग एवं काल में बंधे न होकर हजारों वर्ष पूर्व से चले आ रहे धार्मिक अनुभवों, कृषि परंपराओं, ऋतु चक्र, लोक विश्वासों और सामाजिक आवश्यकताओं के परिणाम स्वरुप विकसित हुए हैं। लोक समाज प्रारंभ से ही प्रकृति पर निर्भर रहा है। सूर्य, चंद्रमा, वर्षा, पेड़-पौधे, वनस्पति एवं पशु लोक जीवन का आधार रहे हैं। परिणाम स्वरुप अनेक त्योहारों की उत्पत्ति कृषि चक्र और ऋतु परिवर्तन से संबद्ध दिखाई देती है।

भारतीय लोक संस्कृति में उत्सव मनाने की परंपरा आदिम काल से अनवरत है अथर्ववेद के पृथ्वी सूक्त के अनुसार हमारी मातृभूमि जिस जन समुदाय को धारण करती है वह विविध भाषा भाषी, आचार विचार एवं व्यवहारों का अनुयायी है किंतु भारतवर्ष की अंतरात्मा उसकी एकता है। एकता का आधार हमारी आध्यात्मिकता है। सब कुछ ब्रह्ममय की अनुभूति हमें बाहरी विविधताओं के साथ भी हर स्थिति में एकता के सूत्र में बांधे रखती है। उत्सव, पर्व, त्यौहार ऐसे ही तत्व है जो सचमुच हमारी संस्कृति की अंतर्निहित शुभेषणा, समरसता और चैतन्य के उत्स हैं। ये पर्व मात्र धार्मिक कर्मकांड नहीं है अपितु एकता के सूत्र में बांधने के मजबूत सूत्र है। प्रकृति, पर्यावरण तथा पारिस्थितिकी तंत्र के साथ मानवीय जीवन के अन्तः संबंधों के अन्वेषक है। इनका भारत की प्राचीनतम गौरवमयी उपलब्धियों एवं पूर्वजों की सुविज्ञता से गहरा संबंध है। सचमुच यह पर्व, उत्सव, त्यौहार पूर्वजों के पुरुषार्थ के प्रकाशक हैं।1

भारतीय सभ्यता और संस्कृति का मूल आधार लोक जीवन रहा है। यही संस्कृति जनजीवन के दैनिक क्रिया-कलापों, धार्मिक विश्वासों, सामाजिक समरसता, आचार-विचार और सामूहिक अनुभवों की जीवंत धारा है। भारतीय समाज में लोक संस्कृति केवल अतीत की स्मृति नहीं बल्कि वर्तमान में सक्रिय और भविष्य को दिशा देने वाली सशक्त सांस्कृतिक शक्ति है। इसी लोक संस्कृति के भीतर त्योहारों की उत्पत्ति हुई है, जो जनमानस की संवेदनाओं, विश्वासों, संघर्षों और आस्थाओं को मूर्त रूप देकर सामूहिक उल्लास एवं अभिव्यक्ति का माध्यम बनते हैं।

आदिम मानव से लेकर आधुनिक समाज तक मनुष्य ने प्रकृति के साथ अपने संबंधों को समझने और संतुलन के लिए विभिन्न उत्सवों और अनुष्ठानों को जन्म दिया। लोक समाज ने अपने अनुभवों को शास्त्रों की अपेक्षा लोक कथा, लोकगीतों और लोक पर्वों के माध्यम से सुरक्षित और सुगम समझा यही कारण है कि भारतीय लोक त्योहारों का स्वरूप अत्यंत जीवंत, बहुरंगी और क्षेत्रीय विविधताओं से युक्त दिखाई देता है। प्रत्येक क्षेत्र में एक ही त्यौहार का अलग रूप नाम और अलग परंपरा दिखाई देती है। जो लोक संस्कृति की सृजनात्मक शक्ति को प्रकट करती है।

भारतीय लोक संस्कृति में जिन जीवनमूल्यों, प्रकृति केंद्रित आस्थाओं और सामुदायिक चेतना का समावेश है उन्हीं की जीवंत निरंतरता के रूप में छठ पूजा का पर्व सामने आता है। यद्यपि मेरा जन्म और सामाजिक परिवेश उस अंचल से संबद्ध नहीं है जहां यह पर्व मूलतः विकसित हुआ फिर भी यह तत्त्व उल्लेखनीय है कि लोक पर्वों की सार्थकता उनकी भौगोलिक सीमाओं से निर्धारित नहीं होती। इस विषय पर मेरी शोधात्मक रुचि उत्पन्न होने का कारण इसकी आत्मा में निहित सरलता, विविधता, अनुशासन और प्रकृति के प्रति कृतज्ञता का भाव है जो संपूर्ण आर्यावर्त में इसे एक विशिष्ट छवि प्रदान करता है। इसी स्वाभाविक आकर्षण के क्रम में जब छठ पूजा के इतिहास की ओर दृष्टि जाती है तो यह स्पष्ट होता है कि इसकी जड़ें भारतीय सभ्यता की उस वैदिक परंपरा में निहित है जहां प्रकृति को देव तुल्य मानकर उसे जीवन का आधार स्वीकार किया गया था। सूर्य जो संपूर्ण सृष्टि का ऊर्जा स्रोत है भारतीय चिंतन में केवल एक खगोलीय पिंड नहीं, अपितु जीवन, स्वास्थ्य और संतुलन का प्रतीक रहा है। छठ पूजा वैदिक सूर्य उपासना परंपरा का आधुनिक और लोकाभिव्यक्ति रूप है।

हमारे समक्ष प्रश्न उत्पन्न होता है कि छठ पूजा की उत्पत्ति कैसे हुई? लोक विश्वासों और पौराणिक कथाओं में छठ पूजा की शुरुआत को महाभारत और रामायण काल से जोड़कर देखा जाता है इस पर्व के बारे में ऐसी कोई सत्यापित कथा नहीं है कि यह कब से प्रारंभ हुआ फिर भी कुछ मतों के अनुसार माना जाता है की सबसे पहले द्वापर युग में कर्ण ने सूर्य की उपासना की थी तभी से आम जनों में छठ का प्रचलन हुआ।

एक लोक मान्यता के अनुसार छठ पर्व की शुरुआत महाभारत काल से हुई थी। महाभारत में दो कथाएं प्रचलित हैं, जिनमें प्रथम प्रसंग कर्ण से जुड़ा हुआ है तथा द्वितीय द्रोपदी से। कर्ण सूर्यपुत्र थे और प्रतिदिन सूर्योदय के समय जल में खड़े होकर सूर्य को अर्घ्य देते थे। कर्ण का यह आचरण आगे चलकर लोक धर्म में उगते सूर्य को अर्घ्य देने की परंपरा का सांस्कृतिक आधार बना। दूसरी ओर अज्ञातवास और वनवास के समय द्रौपदी ने परिवार की रक्षा और पुनः राज्य प्राप्ति की कामना से सूर्य देव का कठिन व्रत किया। कहा जाता है कि द्रौपदी ने नदी तट पर रहकर निर्जल उपवास और सूर्य को अर्घ्य अर्पित किया। यह कथा छठ पूजा के उस पक्ष को उजागर करती है जहां परिवार कल्याण और स्त्री व्रत केंद्र में है।

रामायण के संबंध में छठ पूजा का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है किंतु मौखिक परंपराओं, आस्थाओं और सांस्कृतिक व्याख्याओं के आधार पर इसका संबंध रामायण काल से जोड़ा जाता है। एक लोक मान्यता के अनुसार सीता चरण (मुंगेर) में गंगा के बीच एक मौनी पर्वत है जहां मुद्गल ऋषि तपस्या करते थे। उस पर्वत पर माता सीता ने उपासना की थी आनंद रामायण में उल्लेख है कि ब्रह्म हत्या से पाप मुक्ति के लिए श्री राम, माता सीता और लक्ष्मण सहित यहां आए थे तब माता सीता ने राजकुल की सुख समृद्धि, संतान कल्याण और लोक मंगल की कामना से सूर्य देव को अर्घ्य दिया था। सूर्यवंशी होने के कारण सूर्यदेव श्री राम के कुल देवता माने जाते हैं। इसी प्रसंग में कार्तिक शुक्ल षष्ठी के दिन सूर्य उपासना उपवास, संयम और पवित्रता के साथ की गई जिसे आगे चलकर षष्ठी तिथि से जुड़ी ‘छठ पूजा’ के रूप में लोक जीवन में प्रतिष्ठा मिली छठ पूजा को मिथिला की धरती माता सीता की लोक आस्था और सूर्य संस्कृति से जोड़कर देखने पर यह पर्व केवल धार्मिक अनुष्ठान नहीं बल्कि स्त्री संवेदना, कृषि सभ्यता और लोक कल्याण का सजीव प्रतीक बन जाता है।

एक कथा के अनुसार राजा प्रियंवद को कोई संतान नहीं थी तब महर्षि कश्यप ने पुत्रेष्टि यज्ञ कर उनकी पत्नी मालिनी को यज्ञाहुति के लिए

बनाई गई खीर दी। इसके प्रभाव से उन्हें पुत्र हुआ परंतु मृत पैदा हुआ। प्रियंवद पुत्र को लेकर शमशान गए और पुत्र वियोग में प्राण त्यागने लगे। उसी वक्त ब्रह्मा जी की मानस कन्या देवसेना प्रकट हुई और कहा कि सृष्टि की मूल प्रवृत्ति के छठे अंश से उत्पन्न होने के कारण मैं षष्ठी कहलाती हूं। हे राजन! आप मेरी पूजा करें और लोगों को भी पूजा के लिए प्रेरित करें राजा ने पुत्र इच्छा से देवी षष्ठी का व्रत किया और उन्हें पुत्र रत्न की प्राप्ति हुई यह पूजा कार्तिक शुक्ल षष्ठी को हुई थी। (विकिपीडिया)

एक अन्य कथा के अनुसार, प्रथम देवासुर संग्राम में जब असुरों के हाथों देवता हार गए थे तब देव माता अदिति ने तेजस्वी पुत्र की प्राप्ति के लिए देवारण्य के देव सूर्य मंदिर में रनवे यानी छठी मैया अपनी पुत्री की आराधना की थी। तब प्रसन्न होकर छठी मैया ने उन्हें सर्वगुण संपन्न तेजस्वी पुत्र होने का वरदान दिया था। इसके बाद अदिति के पुत्र हुए त्रिदेव रूप आदित्य भगवान, जिन्होंने असुरों पर देवताओं को विजय दिलाई।

बिहार की लोक परंपरा में सूर्य षष्ठी में छठी मैया की पूजा से संबद्ध अनेक गीत तथा लोक कथाएं प्रचलित है। इस परंपरा का संबंध भविष्य पुराण की एक कथा से भी है। इसमें कार्तिक मास की षष्ठी तिथि को कार्तिकेय तथा उनकी माता का पूजा विधान किया गया है। भविष्य पुराण के उत्तर पर्व के 42 में अध्याय में कहा गया है कि कार्तिकेय ने इस दिन तारकासुर का वध किया था इस अध्याय में इस षष्ठी तिथि को सूर्य की पूजा करने का भी विधान किया गया है।

पौराणिक काल में सूर्य को आरोग्य देवता भी माना जाने लगा था। सूर्य की किरणों में कई रोगों को नष्ट करने की क्षमता पाई गई। ऋषि मुनियों ने अपने अनुसंधान के क्रम में किसी खास दिन को इसका प्रभाव विशेष पाया। संभवतः यही छठ पर्व के उद्भव की बेला रही हो। भगवान कृष्ण के पौत्र शाम्भ को कुष्ठ रोग हो गया था। इस रोग से मुक्ति के लिए विशेष सूर्य उपासना की गई जिसके लिए शाक्य द्वीप से ब्राह्मणों को बुलाया गया था। यही आगे चलकर छठ पर्व के स्वास्थ्य की मंगल कामना के रूप में इस पर्व को मनाए जाने लगा।

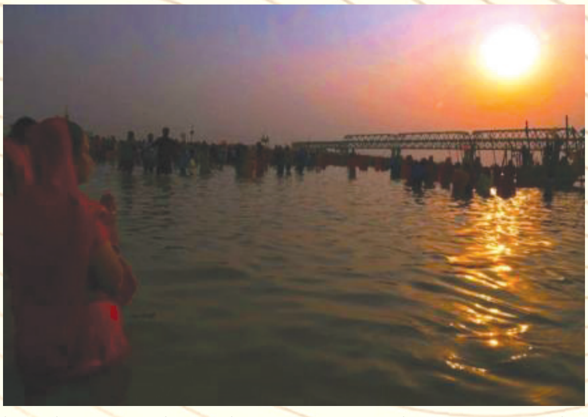

एक अन्य लोक कथा के अनुसार, प्राचीन काल में राजा शर्याति की पुत्री सुकन्या थी। खेलते हुए उन्होंने च्वयन ऋषि की आंखें फोड़ दी, जिससे ऋषि अंधे हो गए। सुकन्या ने ऋषि से विवाह किया और उनके स्वास्थ्य के लिए नाग कन्याओं से छठ व्रत का विधान जाना। सुकन्या ने कार्तिक शुक्ल षष्ठी को छठ व्रत किया, सूर्य देव को अर्घ्य दिया। व्रत की शक्ति से च्वयन ऋषि की आंखें ठीक हो गई और वे युवा हो गए। यह कथा बिहार, झारखंड, पूर्वी उत्तर प्रदेश की लोक परंपराओं में गीतों और व्रत कथाओं के रूप में जीवित है।

छठ पर्व की उत्पत्ति से जुड़ी पौराणिक, ऐतिहासिक और लोक कथाएं केवल अतीत की स्मृतियां नहीं हैं, अपितु वे उस लोक आस्था की जड़े हैं, जिसने पर्वों को आज तक जीवंत बनाए रखा है। इन्हीं कथाओं की भाव भूमि पर छठ का चार दिवसीय अनुष्ठान विकसित होता है। छठ पर्व के चारों दिन शुद्धि, संयम और सूर्योपासना की क्रमिक साधना है। प्रथम दिन 'नहाए खाए' का होता है, जिसमें व्रति पवित्र जल से स्नान कर तन मन की शुद्धि कर सात्विक भोजन ग्रहण करते हैं। द्वितीय दिन 'खरना' होता है जिसमें दिन भर निर्जल उपवास के पश्चात रात्रि में गुड़, चावल की खीर, रोटी और फलों का प्रसाद अर्पित किया जाता है। तृतीय दिन 'संध्या अर्घ्य' में अस्ताचलगामी सूर्य को बांस के सूप में सजे ठेकुआ, गन्ना, फल- फूल और दीप के साथ अर्घ्य देकर कृतज्ञता प्रकट की जाती है। चतुर्थ दिन 'उषा अर्घ्य' में उदीयमान सूर्य को अर्घ्य अर्पित कर व्रत का पारण होता है। यही चार दिवस मिलकर छठ को प्रकृति, समाज और स्वास्थ्य का संपूर्ण पर्व बनाते हैं।काल की धार में त्योहारों का मौलिक भाव छुप जाता है, जिससे पर्वों में हम आध्यात्मिक जड़ों की तलाश करते हैं। छठ पर्व भारतीय संस्कृति की उस प्राचीन वैदिक चेतना का मूर्त रूप है, जो वैदिक नमन और सांख्य दर्शन से जुड़ा हुआ है। यह पर्व किसी कृत्रिम आडंबर पर आधारित न होकर पूर्णतः प्रकृति के व्यावहारिक विधानों पर केंद्रित है। वेदों में जिन देवताओं की उपासना का विधान मिलता है, उनमें सूर्य को 'प्राणस्य प्राण' कहा गया है और छठ पर्व इस वैदिक सूर्य साधना की जीवंत परंपरा है। यह पर्व मानव और प्रकृति के शाश्वत संबंधों को रेखांकित करता है जिसमें वह अलग-अलग न होकर अभिन्न है। छठ मात्र एक पर्व नहीं है, अपितु जीवनबोध है जिसमें जीवन के आगमन और गमन के प्रतीकात्मक रूप में अस्ताचलगामी सूर्य और उदीयमान सूर्य को अर्घ्य देकर जीवन की सार्थकता को पूजा के रूप में प्रकट किया जाता है।

छठ पर्व सामाजिक समरसता का अनुपम उदाहरण प्रस्तुत करता है। इस पर्व में घर से लेकर घाट तक की स्वच्छता एवं प्रासादी का आदान-प्रदान यही संदेश देता है कि यह पर्व व्यक्तिगत हित नहीं सामूहिक हित को बढ़ावा देता है। इस पर्व में जाति, वर्ग और आर्थिक भेदभाव का कोई स्थान नहीं है, घाट पर सभी लोग समान भाव से सूर्योपासना करते हैं। यह सामूहिक सहभागिता समाज में सहयोग, सहिष्णुता और एकता की भावना को सुदृढ़ करती है।

आज जब जलवायु परिवर्तन और पर्यावरण असंतुलन वैश्विक चिंता का विषय बन चुके हैं, तब छठ पर्व के स्वरूप को देखते हुए कहा जा सकता है कि लोक परंपराएं भी इस संकट से निपटने का मार्ग दिखा सकती हैं। छठ पर्व में जल, सूर्य और स्वच्छता पर विशेष ध्यान दिया जाता है, जैसे- घाटों की सफाई, प्राकृतिक साधनों में पूजा, प्लास्टिक और दिखावे से दूरी, सामूहिक स्वच्छता आदि दर्शाती है कि पर्वो की वास्तविक सार्थकता प्रकृति से जुड़ाव में है न कि उसे नुकसान पहुंचाने में। यदि यही भावना अन्य सभी पर्वों में भी अपनाई जाए तो पर्यावरण पर पड़ने वाले नकारात्मक प्रभाव को काफी हद तक कम किया जा सकता है। इसके अलावा वैश्वीकरण और प्रवासन के युग में छठ पर्व का देश-विदेश में विस्तार इसका सांस्कृतिक पुनर्निर्माण है। भारत के महा- नगरों से लेकर यूरोप, अमेरिका, खाड़ी देशों तक बसे प्रवासी समुदाय द्वारा छठ का आयोजन यह दर्शाता है कि यह पर्व एक सांस्कृतिक सेतु है, जो भौगोलिक सीमाओं को लांघकर भारतीयता के मूल भाव को विश्व पटल पर प्रतिष्ठित करता है।

चंचल ओझा
शोधार्थी
जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर
E-mail: ojharaja77@gmail.com
Mobile No. : 9981728800

जनजाति पर्व कर्मा : उत्पत्ति और महत्व

डॉ. अलका यादव

भारत के सांस्कृतिक वैभव में त्योहारों और धार्मिक अनुष्ठानों की गहरी और सशक्त छवि विद्यमान है। ये पर्व केवल धार्मिक आस्था की अभिव्यक्ति मात्र नहीं होते, बल्कि सामाजिक एकता, सामूहिक जीवन, पारिवारिक संबंधों और प्रकृति के प्रति सम्मान की भावना को भी सुदृढ़ करते हैं। भारत की विविधतापूर्ण संस्कृति में जनजातीय समुदायों द्वारा मनाए जाने वाले पर्व इस सांस्कृतिक समृद्धि को और अधिक व्यापक बनाते हैं। करमा पूजा ऐसा ही एक महत्वपूर्ण जनजातीय लोक पर्व है, जो झारखंड, छत्तीसगढ़, ओडिशा, पश्चिम बंगाल, बिहार, मध्य प्रदेश, असम और बांग्लादेश के विभिन्न जनजातीय समुदायों में अत्यंत श्रद्धा, उत्साह और उल्लास के साथ मनाया जाता है। यह पर्व प्रकृति, कृषि और कर्म-सिद्धांत से गहराई से जुड़ा हुआ है, साथ ही इसमें हिंदू संस्कृति के धार्मिक, सामाजिक और नैतिक तत्त्वों का भी समन्वय दिखाई देता है।

करमा पूजा भाद्रपद शुक्ल पक्ष की एकादशी को मनाया जाता है। इस दिन करम वृक्ष की डाली को विधिपूर्वक लाकर पूजा स्थल पर गाड़ा जाता है, जिसे करमा देवता का प्रतीक माना जाता है। करमा देवता को सुख, समृद्धि, अच्छी फसल और पारिवारिक मंगल का अधिष्ठाता देव माना जाता है। इस अवसर पर महिलाएं विशेष रूप से निर्जला उपवास रखती हैं और अपने भाइयों तथा परिवार की सुख-शांति और दीर्घायु की कामना करती हैं। पूजा के दौरान करमा देवता की कथा का सामूहिक रूप से श्रवण किया जाता है, जिससे धार्मिक आस्था के साथ-साथ नैतिक मूल्यों का भी संचार होता है। पूजा उपरांत करमा नृत्य और करमा गीतों का आयोजन होता है, जिसमें युवक-युवतियाँ, स्त्री-पुरुष सभी सामूहिक रूप से भाग लेते हैं। यह नृत्य-गीत सामाजिक एकता, आनंद और सामूहिक चेतना का सजीव प्रतीक होते हैं।कर्मा पूजा पर्व आदिवासी समाज का एक अत्यंत प्राचीन, लोकप्रिय और आस्था से परिपूर्ण लोक पर्व है। इस पर्व का प्रमुख आकर्षण कर्मा नृत्य है, जो सामूहिक उल्लास, सांस्कृतिक चेतना और कृषि जीवन से जुड़ी खुशियों की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम है। कर्मा पूजा हिंदू पंचांग के अनुसार भाद्रपद मास की शुक्ल पक्ष की एकादशी तिथि को मनाई जाती है। यह पर्व मुख्य रूप से झारखंड, छत्तीसगढ़, मध्य प्रदेश, ओडिशा, पश्चिम बंगाल सहित देश-विदेश में बसे आदिवासी समुदायों द्वारा बड़े हर्षोल्लास और श्रद्धा के साथ मनाया जाता है।

इस अवसर पर श्रद्धालु दिन भर उपवास रखते हैं और करम वृक्ष या उसकी शाखा को घर के आँगन अथवा अखरा (नृत्य स्थल) में विधिपूर्वक रोपित करते हैं। करम वृक्ष को जीवन, कर्म, समृद्धि और सौभाग्य का प्रतीक माना जाता है। पूजा के पश्चात अगले दिन कुल देवी-देवताओं को नवान्न अर्पित कर ही अन्न ग्रहण किया जाता है। नई फसल के आगमन की खुशी में कर्मा नृत्य और गीतों के माध्यम से लोग अपने उल्लास और कृतज्ञता को व्यक्त करते हैं। इस प्रकार कर्मा पूजा कृषि संस्कृति, प्रकृति-पूजन और कर्म-सिद्धांत से गहराई से जुड़ी हुई है।कर्मा को केवल एक पर्व ही नहीं, बल्कि जनजातीय और लोकसंस्कृति का प्रतीक भी माना जाता है। कर्मा नृत्य छत्तीसगढ़ और झारखंड की लोक-संस्कृति का पर्याय बन चुका है। आदिवासी ही नहीं, बल्कि गैर-आदिवासी समाज भी इसे एक लोक-मांगलिक नृत्य के रूप में स्वीकार करता है। यह नृत्य विशेष रूप से सतपुड़ा और विंध्य पर्वत श्रेणियों के मध्य स्थित सुदूर ग्रामीण क्षेत्रों में प्रचलित है। शहडोल और मंडला क्षेत्र के गोंड और बैगा समुदाय, बालाघाट और सिवनी के कोरकू तथा परधान जातियाँ कर्मा के विभिन्न रूपों जैसे बैगा कर्मा, गोंड कर्मा और भुइयाँ कर्मा का प्रदर्शन करती हैं। छत्तीसगढ़ के लोकगीतों में 'करमसेनी देवी' के अवतरण की कथाएँ मिलती हैं, जिन्हें कभी गोंड के घर में और कभी घसिया के घर में अवतरित माना गया है।

कर्मा पूजा के अवसर पर उपवास का विशेष महत्व है। मनौती मानने वाले श्रद्धालु दिन भर उपवास रखकर अपने सगे-संबंधियों और अड़ोस-पड़ोसियों को आमंत्रित करते हैं। संध्या समय कर्मा वृक्ष की विधिवत पूजा की जाती है और टँगिया या कुल्हाड़ी के एक ही प्रहार से करम वृक्ष की डाली काटी जाती है। विशेष मान्यता यह है कि उस डाली को भूमि पर गिरने नहीं दिया जाता। तत्पश्चात उस डाली को अखरा में गाड़ दिया जाता है और स्त्री-पुरुष, बालक-बालिकाएँ पूरी रात नृत्य-गीत के साथ उत्सव मनाते हैं। अगले दिन उस डाल का समीपस्थ नदी या जलस्रोत में विसर्जन कर दिया जाता है। इस अवसर पर कर्मा गीतों का सामूहिक गायन होता है, जिनमें लोकभाव, आस्था और प्रकृति के प्रति कृतज्ञता झलकती है।

कर्मा पूजा की लोककथा और ऐतिहासिक संदर्भ

कर्मा पूजा से जुड़ी लोककथाएँ इस पर्व को गहन सांस्कृतिक और नैतिक अर्थ प्रदान करती हैं। एक प्रचलित कथा के अनुसार कर्मा और धर्मा दो भाई थे, जो अत्यंत मेहनती और दयालु थे। कर्मा की पत्नी अधार्मिक प्रवृत्ति की थी और धरती माता पर माड़ (अन्न) फेंक देती थी, जिससे कर्मा अत्यंत दुःखी होकर घर छोड़ देता है। उसके जाने के बाद क्षेत्र में दुर्भाग्य, अकाल और कष्ट फैल जाते हैं। धर्मा अपने भाई को खोजने निकलता है और मार्ग में नदी, वृक्ष, वृद्ध और स्त्री से मिलता है, जो सभी अपने कष्टों का कारण कर्मा के चले जाने को बताते हैं। अंततः धर्मा कर्मा को खोज लाता है और कर्मा सभी को उनके कर्मों का बोध कराकर समाधान बताता है। घर

करमा देवता को सुख, समृद्धि, अच्छी फसल और पारिवारिक मंगल का अधिष्ठाता देव माना जाता है। इस अवसर पर महिलाएं विशेष रूप से निर्जला उपवास रखती हैं और अपने भाइयों तथा परिवार की सुख-शांति और दीर्घायु की कामना करती हैं। पूजा के दौरान करमा देवता की कथा का सामूहिक रूप से श्रवण किया जाता है, जिससे धार्मिक आस्था के साथ-साथ नैतिक मूल्यों का भी संचार होता है। पूजा उपरांत करमा नृत्य और करमा गीतों का आयोजन होता है, जिसमें युवक-युवतियाँ, स्त्री-पुरुष सभी सामूहिक रूप से भाग लेते हैं। यह नृत्य-गीत सामाजिक एकता, आनंद और सामूहिक चेतना का सजीव प्रतीक होते हैं। कर्मा पूजा पर्व आदिवासी समाज का एक अत्यंत प्राचीन, लोकप्रिय और आस्था से परिपूर्ण लोक पर्व है। इस पर्व का प्रमुख आकर्षण कर्मा नृत्य है, जो सामूहिक उल्लास, सांस्कृतिक चेतना और कृषि जीवन से जुड़ी खुशियों की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम है।

लौटकर कर्मा द्वारा करम डाल की पूजा किए जाने पर क्षेत्र में पुनः खुशहाली लौट आती है। इसी स्मृति में कर्मा पर्व मनाया जाता है।

एक अन्य कथा के अनुसार कुछ लोग करमा पूजा की अधिष्ठात्री देवी 'करमसेनी देवी' को मानते हैं, जबकि कुछ इसे विश्वकर्मा भगवान या राजा कर्म से जोड़ते हैं। मान्यता है कि राजा कर्म ने विपत्तियों से मुक्ति पाने के पश्चात पहली बार कर्मा पूजा और नृत्य का आयोजन किया था। आदिवासी समाज कर्मशील और परिश्रमी है, जो कृषि कार्य संपन्न होने के बाद इस पर्व को उल्लासपूर्वक मनाता है। इस प्रकार कर्मा पूजा और कर्मा नृत्य केवल धार्मिक अनुष्ठान नहीं, बल्कि आदिवासी समाज की सांस्कृतिक पहचान, सामाजिक एकता, कर्म-सिद्धांत और प्रकृति के प्रति सम्मान का सजीव प्रतीक हैं।

करमा पूजा की पौराणिक कथा और सामाजिक परिदृश्य इस पर्व को गहन सांस्कृतिक अर्थ प्रदान करते हैं। प्रचलित लोककथाओं में सात भाई और उनकी पत्नियों की कथा विशेष रूप से प्रसिद्ध है, जिसमें करम वृक्ष अथवा करमा देवता के अपमान के कारण परिवार पर अनेक विपत्तियाँ आती हैं। जब परिवार अपनी भूल को समझकर श्रद्धा और नियमपूर्वक करमा देवता की पूजा करता है, तब पुनः उनके जीवन में सुख, समृद्धि और खुशहाली लौट आती है। यह कथा कर्म और भाग्य के संतुलन का संदेश देती है तथा यह सिखाती है कि परिश्रम, श्रद्धा और अनुशासन से ही जीवन में सफलता प्राप्त होती है।

इन्हीं लोककथाओं के आधार पर करमा पूजा की धार्मिक और सामाजिक परंपराएँ विकसित हुई। करम वृक्ष की डाली को पूजा का केंद्र बनाना, 'जावा' नामक अनाज को उगाकर पूजन करना और सामूहिक अनुष्ठानों का आयोजन इस पर्व की विशेषताएँ हैं। जावा पूजन कृषि संस्कृति और प्रकृति के प्रति कृतज्ञता का प्रतीक है। करमा पूजा के माध्यम से भाई-बहन का प्रेम, पारिवारिक एकता, सामाजिक सामंजस्य और प्रकृति के साथ संतुलित संबंधों की भावना पीढ़ी-दर-पीढ़ी जीवित रहती है। इस प्रकार करमा पूजा केवल एक धार्मिक अनुष्ठान नहीं, बल्कि जनजातीय समाज की सांस्कृतिक चेतना, नैतिक शिक्षा और सामाजिक एकजुटता का सशक्त प्रतीक है।

कर्मा पर्व की उत्पत्ति

कर्मा पर्व की उत्पत्ति आदिवासी समाज की कृषि-प्रधान जीवनशैली तथा प्रकृति के प्रति गहरी श्रद्धा और आस्था से जुड़ी हुई है। यह पर्व मूलतः श्रम, कर्म और प्रकृति के संतुलन पर आधारित है। 'कर्मा' शब्द का तात्पर्य कर्म अर्थात परिश्रम और कर्म अर्थात भाग्य दोनों से है। आदिवासी लोकमान्यता के अनुसार मनुष्य अपने कर्मों के माध्यम से ही भाग्य को अनुकूल बना सकता है। इसी जीवन-दर्शन को कर्मा पर्व के रूप में सांस्कृतिक अभिव्यक्ति मिली है।

कर्मा को एक लोक देवता के रूप में पूजा जाता है, जो कृषि, फसल की वृद्धि, प्राकृतिक संतुलन और ग्राम-समृद्धि के प्रतीक माने जाते हैं। यह पर्व हिंदू पंचांग के अनुसार भाद्रपद मास के शुक्ल पक्ष की एकादशी को मनाया जाता है। इस दिन आदिवासी समाज विशेष श्रद्धा के साथ करम देवता की पूजा करता है और उनसे फसलों की रक्षा, अच्छी पैदावार तथा गांव की खुशहाली की कामना करता है। पूजा के दौरान गांव के बैगा या पुजारी द्वारा कर्म राजा की कथा सुनाई जाती है, जिससे पर्व का धार्मिक, नैतिक और सांस्कृतिक महत्व और अधिक गहन हो जाता है। कथा-श्रवण के पश्चात सामूहिक रूप से करमा नृत्य का आयोजन किया जाता है, जिसमें स्त्री और पुरुष समान रूप से भाग लेते हैं।

करमा पूजा और सनातन संस्कृति का वैचारिक आधार

करमा पूजा की मूल अवधारणा कर्म, प्रकृति और धर्म के सिद्धांतों पर आधारित है। सनातन हिंदू दर्शन में कर्म का सिद्धांत अत्यंत महत्वपूर्ण है, जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपने कर्मों का फल अवश्य प्राप्त होता है। यही विचार करमा पूजा की लोककथाओं और अनुष्ठानों में स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। करमा देवता को जनजातीय समाज यौवन, शक्ति, परिश्रम और प्रकृति के रक्षक के रूप में पूजता है, जो हिंदू धर्म के देव-तत्त्वों जैसे- इंद्र, वरुण, पृथ्वी, वनदेवता से साम्य रखता है। हिंदू धर्म में देवताओं का संबंध प्रकृति के तत्वों से माना गया है। वृक्ष पूजा, नदी पूजा, पर्वत पूजा और भूमि पूजन जैसी परंपराएँ इसका प्रमाण हैं। करम वृक्ष की पूजा इसी सनातन परंपरा की एक लोक-अभिव्यक्ति है, जिसमें वृक्ष को जीवनदाता और संरक्षक माना गया है।

कर्मा पर्व को मनाने की विधि

कर्मा पर्व की शुरुआत करम वृक्ष की एक पवित्र डाली को गांव के किसी प्रमुख व्यक्ति के आँगन या अखरा (नृत्य स्थल) में विधिपूर्वक गाड़ने से होती है। यह डाली करम देवता का प्रतीक मानी जाती है और इसकी पूजा पूरे श्रद्धा-भाव से की जाती है। महिलाएँ इस पर्व की तैयारी तीजा पर्व के दिन से ही प्रारंभ कर देती हैं। वे टोकरी या पात्र में जौ, गेहूँ, मक्का, धान आदि विभिन्न फसलों के बीज बोती हैं, जिसे स्थानीय भाषा में 'जाई' या 'जावा' कहा जाता है। यह जाई कर्मा पर्व तक अंकुरित हो जाती है और हरियाली, जीवन तथा उर्वरता का प्रतीक बनती है।

पूजा के समय जाई को फूलों से सजाया जाता है और उसमें खीरा अथवा अन्य फल रखकर करम देवता को अर्पित किया जाता है। इसके पश्चात रात्रि भर करम देवता के चारों ओर करमा नृत्य किया जाता है। महिलाएँ गोल घेरे में श्रृंखला बनाकर नृत्य करती हैं, जबकि पुरुष गायक, वादक और नर्तक के रूप में बीच में रहते हैं। इस नृत्य के दौरान मांदर, झाँझ, ढोल और मोहरी (शहनाई) जैसे पारंपरिक वाद्य यंत्रों का प्रयोग किया जाता है। सूर्योदय से पूर्व करम देवता का विसर्जन समीपस्थ नदी या जलस्रोत में कर दिया जाता है, जिससे पर्व का विधिवत समापन होता है।

विभिन्न जनजातियों में कर्मा पर्व

मध्य भारत की प्रमुख जनजातियाँ गोंड, संथाल, मुंडा, हो, कोरकू, बैगा आदि कर्मा पर्व को विशेष श्रद्धा और उल्लास के साथ मनाती हैं। इन समुदायों में कर्मा पूजा के अवसर पर पारंपरिक नृत्य, गीत और सामूहिक भोज का आयोजन किया जाता है। लोग रंग-बिरंगे पारंपरिक वस्त्र धारण कर सामाजिक एकता और सांस्कृतिक गौरव का प्रदर्शन करते हैं।

गोंड जनजाति में करम देवता की छवि को पवित्र स्थान पर स्थापित कर पूजा की जाती है। झारखंड और छत्तीसगढ़ के लगभग सभी जिलों में यह पर्व व्यापक स्तर पर मनाया जाता है। छत्तीसगढ़ में विशेष रूप से सरगुजा और कोरबा संभाग में कर्मा पर्व की धूम देखने को मिलती है, जहाँ करम देवता की पूजा फसलों की सुरक्षा और गांव की समृद्धि के लिए की जाती है। ओडिशा और पश्चिम बंगाल के जनजातीय समुदाय भी इस पर्व को अपने विशिष्ट ढंग से मनाते हैं। कुछ क्षेत्रों में पशु बलि की परंपरा भी प्रचलित है, जो वहाँ की धार्मिक मान्यताओं और लोकविश्वासों का प्रतीक मानी जाती है। इन सभी क्षेत्रों में नृत्य, गीत और सामूहिक भोज सामाजिक समरसता को सुदृढ़ करते हैं।

आधुनिक समय में कर्मा पर्व का महत्व

वैश्वीकरण, शहरीकरण और आधुनिकता के प्रभाव के बावजूद कर्मा पर्व का महत्व आज भी जनजातीय समाजों में बना हुआ है। यद्यपि

ढोल, मांदर, झांझ, मोहरी जैसे पारंपरिक वाद्य यंत्रों की लयात्मक ध्वनि वातावरण को आध्यात्मिक ऊर्जा से भर देती है। इन वाद्यों की गूंज केवल कानों तक सीमित नहीं रहती, बल्कि मन और आत्मा को भी स्पर्श करती है। सामूहिक गायन और नृत्य के दौरान व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत पीड़ा, चिंता और अहंकार से मुक्त होकर समुदाय के साथ एकात्म अनुभव करता है। इस प्रकार करमा नृत्य आत्मिक शुद्धि और मानसिक संतुलन का साधन बन जाता है। करमा गीतों में कृषि, प्रकृति, प्रेम, भाई-बहन का स्नेह, परिश्रम और जीवन दर्शन की अभिव्यक्ति मिलती है। ये गीत पीढ़ी-दर-पीढ़ी मौखिक परंपरा के माध्यम से आगे बढ़ते हैं और जनजातीय समाज के सांस्कृतिक ज्ञान को संरक्षित रखते हैं।

कुछ स्थानों पर इसकी पारंपरिक विधियों में परिवर्तन आया है, फिर भी लोग अपनी सांस्कृतिक पहचान और विरासत को संरक्षित रखने के लिए निरंतर प्रयासरत हैं। आधुनिक युग में कर्मा पर्व केवल एक धार्मिक अनुष्ठान नहीं रह गया है, बल्कि यह जनजातीय समाज की सांस्कृतिक अस्मिता और सामाजिक एकता का प्रतीक बन चुका है।

आज कर्मा पर्व सामाजिक और सांस्कृतिक पुनरावलोकन का अवसर भी प्रदान करता है। यह आदिवासी समाज को अपनी जड़ों से जोड़ता है और परंपराओं के संरक्षण का भाव जाग्रत करता है। विभिन्न जनजातीय समुदायों में कर्मा पर्व को मनाने की विविध विधियाँ उनकी सांस्कृतिक विविधता, समृद्धि और जीवंत परंपरा का प्रमाण हैं। इस प्रकार कर्मा पर्व न केवल अतीत की विरासत है, बल्कि वर्तमान और भविष्य में भी जनजातीय संस्कृति की पहचान को बनाए रखने वाला एक सशक्त माध्यम है।

भाई-बहन के प्रेम और हिंदू सांस्कृतिक परंपरा

करमा पूजा का एक अत्यंत भावनात्मक और सामाजिक पक्ष भाई-बहन के प्रेम से जुड़ा हुआ है। इस पर्व में बहनें निर्जला उपवास रखकर अपने भाइयों की दीर्घायु, सुख और समृद्धि की कामना करती हैं। यह परंपरा हिंदू संस्कृति में रक्षाबंधन के पर्व से स्पष्ट समानता रखती है। दोनों ही पर्वों में बहन द्वारा भाई के लिए व्रत, आशीर्वाद और मंगलकामना की जाती है।हिंदू धार्मिक ग्रंथों और पुराणों में भाई-बहन के प्रेम के अनेक उदाहरण मिलते हैं, जैसे यम-यमी, कृष्ण-सुभद्रा, और इंद्राणी-इंद्र। करमा पूजा इसी सांस्कृतिक भावना को जनजातीय लोकजीवन में जीवित रखती है और पारिवारिक संबंधों की गरिमा को सुदृढ़ करती है।

करमा पूजा की विधि : परंपरा और आध्यात्मिकता का संगम

करमा पूजा की विधि अत्यंत सरल, प्रकृतिपरक और आध्यात्मिक है। पूजा से पूर्व 7 से 9 दिनों तक 'जावा उठाने' की परंपरा निभाई जाती है। इस प्रक्रिया में विभिन्न प्रकार के अनाज जैसे- धान, गेहूं, चना आदि बालू में बोए जाते हैं। यह कार्य प्रायः ब्रह्म मुहूर्त में किया जाता है, जो हिंदू पूजा पद्धति में शुभ समय माना जाता है। जावा का अंकुरण जीवन, उर्वरता और समृद्धि का प्रतीक है। यह परंपरा कृषि संस्कृति और प्रकृति के प्रति कृतज्ञता को दर्शाती है। हिंदू धर्म में भी अन्न को ब्रह्म माना गया है- "अन्नं ब्रह्मेति" और करमा पूजा इसी दर्शन को लोकस्तर पर अभिव्यक्त करती है।

नृत्य, संगीत और लोकगीत : आध्यात्मिक अभिव्यक्ति का माध्यम

करमा पूजा में नृत्य, संगीत और लोकगीत केवल सांस्कृतिक मनोरंजन तक सीमित नहीं हैं, बल्कि ये जनजातीय समाज की आध्यात्मिक चेतना, सामूहिक साधना और भावनात्मक एकता के सशक्त माध्यम हैं। करमा नृत्य और करमा गीतों के माध्यम से समुदाय के लोग करम देवता के प्रति अपनी श्रद्धा, आस्था और कृतज्ञता प्रकट करते हैं। यह नृत्य जीवन के संघर्ष, परिश्रम और आशा का प्रतीक है, जो मानव और प्रकृति के बीच गहरे संबंध को दर्शाता है। गोलाकार रूप में किया जाने वाला करमा नृत्य सामाजिक समानता और सामूहिकता का संकेत देता है, जहाँ सभी व्यक्ति बिना किसी भेदभाव के एक ही लय में थिरकते हैं।

ढोल, मांदर, झांझ, मोहरी जैसे पारंपरिक वाद्य यंत्रों की लयात्मक ध्वनि वातावरण को आध्यात्मिक ऊर्जा से भर देती है। इन वाद्यों की गूंज केवल कानों तक सीमित नहीं रहती, बल्कि मन और आत्मा को भी स्पर्श करती है। सामूहिक गायन और नृत्य के दौरान व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत पीड़ा, चिंता और अहंकार से मुक्त होकर समुदाय के साथ एकात्म अनुभव करता है। इस प्रकार करमा नृत्य आत्मिक शुद्धि और मानसिक संतुलन का साधन बन जाता है। करमा गीतों में कृषि, प्रकृति, प्रेम, भाई-बहन का स्नेह, परिश्रम और जीवन दर्शन की अभिव्यक्ति मिलती है। ये गीत पीढ़ी-दर-पीढ़ी मौखिक परंपरा के माध्यम से आगे बढ़ते हैं और जनजातीय समाज के सांस्कृतिक ज्ञान को संरक्षित रखते हैं। गीतों की सरल भाषा और भावप्रधान शैली उन्हें जन-जन से जोड़ती है और सामूहिक स्मृति का निर्माण करती है।

वैदिक परंपरा में भी यज्ञ, स्तुति, सामूहिक गायन और नृत्य को आध्यात्मिक साधना का महत्वपूर्ण अंग माना गया है। ऋग्वेद में सामूहिक स्तुति और देवताओं की आराधना के माध्यम से आध्यात्मिक उन्नति की अवधारणा मिलती है। इसी वैचारिक परंपरा का लोक रूप करमा पूजा में दिखाई देता है, जहाँ नृत्य और संगीत साधना का माध्यम बन जाते हैं। इस प्रकार करमा पूजा के नृत्य और लोकगीत न केवल जनजातीय संस्कृति की पहचान हैं, बल्कि भारतीय आध्यात्मिक परंपरा से भी गहरे रूप में जुड़े हुए हैं।

पर्यावरण और प्रकृति पूजन का संदेश

करमा पर्व की सबसे बड़ी विशेषता इसका पूर्णतः प्रकृति-आधारित होना है। करम वृक्ष की पूजा यह स्पष्ट संदेश देती है कि मानव जीवन का अस्तित्व प्रकृति पर निर्भर है। हिंदू धर्म में प्रकृति को माता का स्थान दिया गया है पृथ्वी माता, गंगा माता, वनदेवी आदि।

आज जब पर्यावरण संकट वैश्विक समस्या बन चुका है, करमा पूजा का संदेश और भी अधिक प्रासंगिक हो जाता है। यह पर्व हमें सिखाता है कि प्रकृति का दोहन नहीं, बल्कि संरक्षण ही मानव जीवन की स्थिरता का आधार है। यह विचार हिंदू धर्म के अहिंसा और संतुलन के सिद्धांत से पूर्णतः मेल खाता है।

सामाजिक समरसता और सामूहिकता का पर्व

करमा पूजा का सामाजिक पक्ष अत्यंत व्यापक और अर्थपूर्ण है, क्योंकि यह पर्व केवल धार्मिक आस्था तक सीमित न रहकर सामाजिक समरसता और सामूहिक जीवन की भावना को सुदृढ़ करता है। जनजातीय समाज में करमा पूजा ऐसा अवसर प्रदान करती है, जहाँ जाति, वर्ग, आयु और लिंग जैसे भेदभाव स्वतः ही गौण हो जाते हैं। इस पर्व में सभी लोग स्त्री, पुरुष, वृद्ध, युवा और बालक समान रूप से भाग लेते हैं, जिससे सामाजिक समानता और पारस्परिक सम्मान की भावना विकसित होती है। करमा पूजा के माध्यम से समाज के प्रत्येक सदस्य को यह अनुभव होता है कि वह समुदाय का अभिन्न अंग है और उसकी उपस्थिति व सहभागिता का विशेष महत्व है।

करमा पूजा में सामूहिक पूजा, सामूहिक उपवास और सामूहिक नृत्य-गीत की परंपरा सामाजिक एकता को और अधिक मजबूत बनाती है। पूजा की सभी विधियाँ सामूहिक रूप से संपन्न होती हैं, जिसमें व्यक्तिगत पूजा के बजाय सामुदायिक हित को प्राथमिकता दी जाती है। करम वृक्ष की स्थापना और उसकी पूजा पूरे गांव या समुदाय की ओर से की जाती है, जिससे आपसी सहयोग, सहभागिता और उत्तरदायित्व की भावना उत्पन्न होती है। रात्रि भर किया जाने वाला करमा नृत्य भी सामूहिकता का सशक्त प्रतीक है, जहाँ सभी लोग एक ही लय और ताल में नृत्य करते हैं। यह सामूहिक नृत्य सामाजिक भेदभाव को समाप्त कर एकता, आनंद और सामंजस्य का वातावरण निर्मित करता है।

इस पर्व के माध्यम से पारिवारिक और सामाजिक संबंध भी सुदृढ़ होते हैं। करमा पूजा के अवसर पर सगे-संबंधियों और पड़ोसियों को आमंत्रित करने की परंपरा सामाजिक मेल-जोल को बढ़ाती है। आपसी मतभेद और तनाव इस पर्व के दौरान समाप्त हो जाते हैं और लोग परस्पर सौहार्द और भाईचारे के साथ एक-दूसरे के सुख-दुःख में सहभागी बनते हैं। इस प्रकार करमा पूजा सामाजिक सद्भाव, सहयोग और सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना को जीवंत बनाए रखती है।

हिंदू संस्कृति में निहित 'वसुधैव कुटुंबकम्' की अवधारणा अर्थात संपूर्ण विश्व को एक परिवार मानने का भाव-करमा पूजा में व्यवहारिक रूप में दृष्टिगोचर होता है। यह पर्व केवल एक समुदाय तक सीमित न रहकर मानवता, समानता और परस्पर सम्मान का संदेश देता है। करमा पूजा यह सिखाती है कि समाज की वास्तविक शक्ति सामूहिकता, सहयोग और समरसता में निहित है। इस प्रकार करमा पूजा सामाजिक समरसता और सामूहिक चेतना का एक जीवंत पर्व बनकर जनजातीय समाज ही नहीं, बल्कि व्यापक भारतीय संस्कृति को भी सुदृढ़ करती है।

करमा पूजा का सामाजिक पक्ष अत्यंत व्यापक और अर्थपूर्ण है, क्योंकि यह पर्व केवल धार्मिक आस्था तक सीमित न रहकर सामाजिक समरसता और सामूहिक जीवन की भावना को सुदृढ़ करता है। जनजातीय समाज में करमा पूजा ऐसा अवसर प्रदान करती है, जहाँ जाति, वर्ग, आयु और लिंग जैसे भेदभाव स्वतः ही गौण हो जाते हैं। इस पर्व में सभी लोग स्त्री, पुरुष, वृद्ध, युवा और बालक समान रुप से भाग लेते हैं, जिससे सामाजिक समानता और पारस्परिक सम्मान की भावना विकसित होती है।

करमा पूजा : सांस्कृतिक पुल और समन्वय का प्रतीक

करमा पूजा जनजातीय और हिंदू संस्कृति के बीच एक सशक्त सांस्कृतिक पुल का निर्माण करती है। इसकी पूजा विधि, लोककथाएँ, उपवास, नृत्य और प्रकृति पूजा हिंदू धार्मिक अनुष्ठानों के समानांतर चलती हैं। यह पर्व सिद्ध करता है कि भारतीय संस्कृति कोई खंडित संरचना नहीं, बल्कि एक जीवंत और समन्वित परंपरा है।

करमा पूजा एक ऐसा जीवंत उदाहरण है, जो दर्शाता है कि भारत की विविध सांस्कृतिक परंपराएँ किस प्रकार एक-दूसरे से जुड़कर एक समृद्ध आध्यात्मिक और सांस्कृतिक ताना-बाना रचती हैं। यह पर्व प्रकृति के सम्मान, कर्म के महत्व, पारिवारिक प्रेम और सामाजिक एकता का संदेश देता है। आज की वैश्विक संस्कृति में भी करमा पूजा की प्रासंगिकता बनी हुई है, क्योंकि यह मानव और प्रकृति के संतुलित संबंधों तथा मानवीय मूल्यों की गरिमा को रेखांकित करती है।

उपसंहार

कर्मा पर्व जनजातीय समाज की सांस्कृतिक चेतना, प्रकृति-पूजा और कर्म-सिद्धांत का सजीव प्रतीक है। इसकी उत्पत्ति आदिवासी समाज के कृषि-आधारित जीवन, सामूहिक श्रम और प्रकृति के प्रति गहरी श्रद्धा से जुड़ी हुई है। करम देवता की पूजा के माध्यम से जनजातीय समाज न केवल फसल की समृद्धि और ग्राम-कल्याण की कामना करता है, बल्कि यह संदेश भी देता है कि मानव जीवन का संतुलन कर्म, प्रकृति और सामूहिकता पर आधारित है। कर्मा पर्व की लोककथाएँ परिश्रम, नैतिकता और सामाजिक उत्तरदायित्व का बोध कराती हैं, जिससे यह पर्व केवल धार्मिक अनुष्ठान न रहकर जीवन-दर्शन का रूप ग्रहण कर लेता है। कर्मा पर्व का महत्व धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और पर्यावरणीय चारों स्तरों पर दृष्टिगोचर होता है। यह पर्व भाई-बहन के प्रेम, सामाजिक समरसता और सामूहिक आनंद को सुदृढ़ करता है। कर्मा नृत्य और गीतों के माध्यम से जनजातीय समाज अपनी भावनाओं, विश्वासों और सांस्कृतिक स्मृतियों को पीढ़ी-दर-पीढ़ी संप्रेषित करता है। साथ ही करम वृक्ष की पूजा और जाई बोने की परंपरा प्रकृति-संरक्षण, कृषि संस्कृति और पर्यावरणीय संतुलन का संदेश देती है, जो आज के समय में अत्यंत प्रासंगिक है। आधुनिकता और वैश्वीकरण के प्रभावों के बावजूद कर्मा पर्व आज भी जनजातीय समाज की पहचान और सांस्कृतिक आत्मा बना हुआ है। यह पर्व अतीत और वर्तमान के बीच सेतु का कार्य करता है तथा परंपरा और परिवर्तन के बीच संतुलन स्थापित करता है। इस प्रकार कर्मा पर्व न केवल जनजातीय लोकसंस्कृति की अमूल्य धरोहर है, बल्कि भारतीय सांस्कृतिक वैभव का भी एक महत्वपूर्ण अंग है, जो श्रम, प्रकृति और मानवीय मूल्यों की गरिमा को निरंतर जीवित रखता है।

ग्रंथ सूची

- भारतीय लोकसंस्कृति और लोकपर्व, रामकुमार वर्मा – इलाहाबाद,लोकभारती प्रकाशन
- जनजातीय समाज : संरचना और संस्कृति, श्यामाचरण दुबे। नई दिल्ली, नेशनल बुक ट्रस्ट
- लोकपर्व और भारतीय जीवन, शिवकुमार तिवारी। प्रयागराज, साहित्य भवन
- छत्तीसगढ़ की लोक संस्कृति, महेश्वर प्रसाद ठाकुर। छत्तीसगढ़ हिंदी ग्रंथ अकादमी

डॉ. अलका यादव
प्राचार्य, विष्णु कांति महाविद्यालय छितापार, लोरमी,
जिला-मुंगेली (छ.ग.)
Email: alkayadav2675@gmail.com

बुन्देली लोकगीतों में देवी-देवताओं की उत्पत्ति

डॉ. सीमा सूर्यवंशी

सृष्टि में जो भी दृश्य - अदृश्य है उन सभी की उत्पत्ति व सृजन की अपनी कहानी है जब हम सृष्टि के निर्माण के मुख्य कारण पर जाते हैं तब गुण (सत ' रज , तम) है यदि ये तीन गुण न होते तो प्रकृति का निर्माण ही नहीं होता। तीनों गुणों से सजीव - निर्जीव प्रकृति का निर्माण हुआ। सृष्टि उत्पत्ति के भारतीय सिद्धांतों की बात करें तो प्रत्येक सृजन में गुण है। आचार्य शंकर ने सृष्टि की उत्पत्ति एक तत्व से मानी, साख्य ने दो तत्वों से तो न्याय दर्शन ने आठ तत्वों से ' वहीं 18 पुराणों की विषयवस्तु सृष्टि का निर्माण कैसे हुआ पर आधारित है। 18 पुराणों में सृष्टि उत्पत्ति की अलग - अलग तरह से कथाएँ मिलती हैं। प्रकृति का क्रम निरंतर चलायमान है। सृष्टि का चलायमान होना- हवा का चलना, सूरज का ऊगना और डूबना, पूरी प्रकृति का एक नियम में स्वमेव चलते रहना एक अद्भुत प्रक्रिया है।

जहाँ संतुलन है वहाँ निर्माण है और जहाँ असंतुलन है वहाँ नाश! लोक पहले आया फिर श्लोक बना। अनुभव जन्य ज्ञान से ही श्लोक शास्त्र बनता है। लोक को अंतिम प्रमाण माना गया है। हम देख रहे है कि शास्त्र का ज्ञान संचित है लोक का ज्ञान विलुप्त हो रहा है। इसलिए असीम ज्ञान जो लोक में है उसे संरक्षित करने की आवश्यता है। कहते है कि सृष्टि का विभाजन दो भागों में हुआ - 1) सत 2) ऋत। प्रकृति में सत को स्थापित करने हेतु ऋत की आवश्यकता होती है। वही समाज में सत स्थापित करने हेतू धर्म नीति बनाई गई और जब-जब धर्म की हानि हुई तब-तब धर्म को बचाने तथा अधर्म का नाश करने हेतु भगवान- देवी देवताओं के रूप में जन्म लेते है। इसी आधार पर देवी - देवताओं का अवतार या उत्पत्ति हुई होगी। इनके अवतार, उत्पत्ति की कहानियाँ, कथाएँ, आख्यान ' बुन्देली लोकगीतों में पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं जो वाचिक परम्परा, लोकवार्ता, की पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलते रहने वाली सनातन परम्परा का अद्भुत प्रमाण हैं। पुराणों में जहाँ शक्ति को ही सर्वश्रेष्ठ व सृष्टिकर्ता के रूप में अभिव्यक्त किया गया है। दुर्गा सप्तशत्याम सटीक में पृष्ठ 70 में वर्णन मिलता है ब्रम्हा जी कहते है -

"त्वयैतद्धार्यते विश्वं त्वयैतत्सृज्यते जगत् ॥
त्वयैतत्पाल्यते देवि त्वमत्स्यन्ते च सर्वदा।
विसृष्टौ सृष्टिरूपा त्वं स्थितिरूपा च पालने ॥
तथा संहतिरुपान्ते जगतोअस्य जगन्मये।

देवि! तुम्ही इस विश्व ब्रहाण्ड को धारण करती हो। तुमसे ही इस जगत् की सृष्टि होती है। तुम्हीं से इसका पालन होता है और सदा तुम्हीं कल्प के अन्त में सबको अपना ग्रास बना लेती हो। जगन्मयी देवि! इस जगत की उत्पत्ति के समय तुम सृष्टिरूपा हो, पालन काल में स्थितिरूपा हो तथा कल्पान्त के समय संहार रूप धारण करने वाली हो। आगे ब्रम्हा जी भी कहते है कि -

"विष्णु: शरीरग्रहणमहमीशान एव च ॥

मुझको भगवान शंकर तथा भगवान विष्णु को भी तुमने ही शरीर धारण कराया है। वहीं श्रीमद्भागवत महापुराण के आठवें अध्याय में भी श्री मैजेय जी बोलते हैं - "सृष्टि के आदि में यह ब्रह्मांड जलमग्न था, चारों ओर केवल जल ही जल था केवल भगवान नारायण ही शेष शैया पर विराजमान थे। उन्होंने संपूर्ण विश्व को अपने में लीन करके आत्मानंद में मग्न होकर योग निद्रा को धारण कर रखा था। केवल पुनः सृष्टि कल के आने पर उन परमात्मा को जगाने के लिए कल शक्ति ही जागृत थी। जब एक सहस्त्र चतुर्युगी वर्ष जल में शयन करते हुए व्यतीत हो गए तब उस काल शक्ति ने उन भगवान नारायण को जगाया। " 4 निश्चय ही शक्ति का सृष्टि सृजन व देव उत्पत्ति में महत्वपूर्ण योगदान रहा।

जहाँ हमारे प्राचीन ग्रंथ शक्ति से ही ब्रम्हा, विष्णु तथा महेश की उत्पत्ति मानते हैं वहीं लोक भी अपनी वाचिक परम्परा में इसी गूढ़ रहस्य को समेटे हुए है। प्रश्न उठता है कि पहले शास्त्र आए या लोक आखिर क्यूं लोक में शास्त्र के साक्ष्य और शास्त्रों में लोक के साक्ष्य मिलते हैं। लोक का ज्ञान भी कितना अद्भुत है।

एक लोकगीत (जस) में सृष्टि उत्पत्ति कैंसे हुई इसमें पहले किन देवताओं का जन्म किस तरह से हुआ इसमें पूरा आख्यान कितने सधे हुए रूप में मिलता है -

सृष्टि सृजन कैसे भई हो मां
सृष्टि सृजन कैसे भई हो मां
जल बम्ब के अन्दर शक्ति ठाड़ी निराकार
हाथ फफोला उनके पड़ गये पड़ गये दोई दोई हाथ
सृष्टि सृजन . . . .
अरे पहलो फफोला जब फूटो रे ब्रह्मा लए अवतार
पहलो फफोला जब फूटो, हाथ में वेद विराजे,
गये ब्रम्हलोकSS। सृष्टि सृजन कैसे भई हो मां।
दूजो फफोला जब फूटो रे विष्णु लए अवतार,
हाथों में चक्र विराज , विष्णु गए वैकुंठ लोक।
तीजो फफोला जब फूटो रे शंभु लए अवतार,
हाथों में उनके डमरु विराजे , शंभु गए कैलाश।
सृष्टि सृजन कैंसे भई हो मां।

स्पष्ट है लोक कहता है सबसे पहले शक्ति ने अवतार लिया इस सृष्टि में प्रथम देवी शक्ति ने अवतार लिया फिर उनके हाथों में तीन फफोला पड़े जिससे ब्रम्हा ,विष्णु ,शंभु ने अवतार लिया और इस सृष्टि का सृजन, पालन, संहार कर सृष्टि को पोषित किया। लोक के साथ। ही शास्त्रों मे भी कहा गया है कि भगवान ब्रह्मदेव रचयिता,भगवान विष्णु पालनहार हैं और शिव मूलतः संहार के देवता और जगतपिता हैं।

इस तरह लोक का ज्ञान कितना अद्भुत है कि लोक सृष्टि, देवताओं के जन्म , सृजन के साथ उनके कार्यो और उनके हाथों में विराजमान साधनों से लगता है कि ब्रम्हा ने वेद जो मानव के ज्ञान के कोश हैं उनमें सृष्टि में व्याप्त पदार्थ एवं समस्त विषय जो इस ब्रम्हाण्ड में है उन सब का वर्णन किया है। जिसे जीवन चर्या में लाने की जरूरत है। उस ज्ञान को आत्मसात करना शायद लोक का लक्ष्य है। लोक के ज्ञान में हर ज्ञान समुद्र की भाँती गहराई एवं व्यापकता लिए हुए है। जगत के पालनहार विष्णुजी के हाथों में चक्र होने का कारण कि वह धर्म के रक्षक और अधर्म का नाश करने वाला शस्त्र है। एक ऐसा अमोघ अस्त्र जो लक्ष्य पर पहुंचकर वापस अपने स्थान पर लौट आता है। इसलिए उसे कभी व्यर्थ न जाने वाला कहा जाता है। चक्र समय के पहिये का भी प्रतीक है इससे लोक यह बताना चाहता है कि व्यक्ति को समय का उपयोग अपने लक्ष्य भेदने हेतु करना चाहिए। शंभू के हाथों में

डमरू का होना समय, ज्ञान, भाषा तथा ब्रह्मांड की पहली धड़कन का प्रतीक है। लोक कहता है कि पहली बार सृष्टि में शिव ही डमरू की धुन पर नाचे इसका तात्पर्य है कि स्वर, ताल, नृत्य की उत्पत्ति के आदि देवता शिव शंभू ही है यह ज्ञान लोक के पास है और वही शास्त्र में भी है। लोक कहता है कि जब-जब धरती पर धर्म का नाश होता है तब - तब प्रभु धर्म की स्थापना हेतु इस धरती में जन्म लेता है यही कार्य शिव के द्वारा किया जाता है जो नव सृजन का प्रतीक है। शिव से ही नव सृजन का मार्ग प्रशस्त होता है।

वहीं देवी काली जी की उत्पत्ति पर लोक कहता है कि घनी अंधेरी अमावस की रात में काली जी का जन्म चैत मास में और अवतार क्वार मास में होता है। काली के पुत्र भैरव और अंजनी के हनुमान तथा उनके कार्यों पर भी प्रकाश डाला है। शास्त्रों में भी भिन्न-भिन्न प्रसंग पढ़ने को मिलते हैं पौराणिक कथा के अनुसार जब काली ने दहुरासुर राक्षस का वध किया तब उनके क्रोध से शिव ने भैरव को समाहित किया और वे आठ रूपों में प्रकट हुए। वे सृष्टि के संतुलन और नकारात्मक शक्तियों के नाश के लिए पूजे जाते हैं। भैरव जो लोक में भी व्याप्त है लोक गीतों में गाते हैं -

दिया जले अमावस रात कालिका जनम लये
कौन मास में जनम लये ओ मॉ ,कौन मास अवतार
कालिका जनम लये
चेत मास में जनम लये ओ मा
क्वार मास अवतार कालिका जनम लये
दिया जले . . . . .।
अरे कौन के हो गए भैरव माया,
कौन के हो गए हनुमान कालिका जनम लये
दिया जले . . . .।
काली के हो गये भैरव माया,
अंजनी के हो गये हनुमान कालिका जनम लये।
सेवा को हो गये भैरव माया,
लड़ने को हो गए हनुमान कालिका जनम लये।
दिया जले अमावस . . .।

सीता जी की उत्पत्ति की कथा भी जहाँ प्राचीन ग्रंथों जैसे गोस्वामी जी ने बालकाण्ड के प्रथम सोपान श्लोक संख्या 5 में लिखा कि- उद्धवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम्। सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोडहं रामवल्लभाम्।।”5 पृथ्वी से प्रकट होने के कारण राजा जनक और रानी सुनयना की पुत्री नहीं हैं। उन्होने उनका पुत्रीवत पालन पोषण किया है। व्याकरण की दृष्टि से हल के द्वारा खींची गई दो रेखाओं के बीच की भूमि सीता कहलाती है लोक में यह कहावत है कि राजा जनक यज्ञ के उपरान्त जमीन को जोत रहे थे उसी समय हल चलाते हुए हल की नोक से एक घड़ा निकला जिसमें एक बालिका निकली जिसका नाम जनक ने सीता रखा। वहीं लोकगीत में भी उसी अर्थ में प्रतीत होता है -

राजा जनक की बाबली हो माँ
चार फूल चौदह कली मेरी माँ निकरी है धरती को फोड़ माया
चार सखी मिल तप करे ओ मा
गंगा जमुना के बीच माया
चार फूल - . . . . . .।
कौन जो मांगे मैया लंकापति रावण
कौन अवध को राज महामैया
कौन जो मांगे मैया भोले शंकर
कौन कुंवारी रह जाए महा मैया
चार फूल . . .
मंदोदरी मांगे मैया लंकापति रावण
सीता अवध को राज महामैया
गौरा मांगें मैया भोले शंकर
नर्मदा कुआरी रह जाए महामैया
चार फूल . . . .
जय जय जगदंबा भवानी राखो ना लाज हमारी माया।

लोक में माता सीता के लिए कितना सम्मानजनक शब्द राजा जनक जी की बाबली किया गया है। उनकी उत्पत्ति इस लोकगीत के अनुसार चार फूल अर्थात चारों दिशाओं और चौदह कली शायद चौदह भुवन के रूप में मानकर एक भुवन पृथ्वी से सीता जी धरती फोड़कर निकली’ चार सखियों का तप अर्थात जो राजा जनक ने यज्ञ करवाया उसकी ओर इंगित करता है। मिथिला के अंतर्गत वृहद्विष्णूपुराणीय मिथिला महात्म्य (सटीक) श्लोक संख्या -38 से मा पृ 7 - 8 मे “पंद्रह नदियों की स्थिति बताई गई है “ 6 वहीं लोकगीत में भी दो नदियों गंगा और यमुना का जिक्र किया गया है मिथिला प्रदेश के दक्षिण में गंगा और यमूना जो छोटी बागमती में मिलती है। लोक का भोगोलिक ज्ञान कितना अद्भुत है गीत में ही क्षेत्रीय विशेषताओं के साथ सीता जी के जन्म का आख्यान गाया है। वहीं एक ओर लोक गीत में सीता जन्म, नामकरण और उनके माता - पिता का आख्यान है -

माई राजा जनक की लाडली हो माँ
राजा जनक हर्षाय रहे ,लई गोदी उठाये ,
यज्ञ हवन कराये , लये नाम धराय।
राजा जनम . . .।
अरे सीता नाम धराय रे , जग पे विख्यात
जगजननी जगदम्बा , महिमा बरनी न जाए
राजा जनक . . . .।
मैय्या सुनयना धन्य भई , मिलि जानकी माय
लाड़-प्यार मां करती ‘ रही झूला झूलाय
राजा जनक . . . .
देवता फूल बरसाये रहे , जनमी जग जननी सीता माय
बोलो जय जय माय
राजा जनक - . . ।

वहीं श्रीकृष्ण के जन्म की कथाएँ शास्त्र कहता है कि देवकी - और वासुदेव की आठवी संतान के रूप में कृष्ण ने दर्शन दिया और शिशु रूप में अवतरित हुए और उन्होंने कहा आपके मित्र नन्द के घर वृंदावन में भेज आओ वहाँ जो कन्या जन्म ली है उसे यहाँ ले आओ विपरीत परिस्थियों में कहते हैं कि शक्ति ने अवतार लिया और कृष्ण का भी अवतार इसी दिन हुआ जिनका साथ शक्ति ने दिया। भगवत पुराण के दशम् स्कन्ध के तीसरा अध्याय में श्री शुकदेव जी कृष्ण जन्म पर एक दोहा है -

भादों कृष्णा अष्टमी, अर्द्ध रात्रि परमान।
नक्षत्र रोहिनी में भये , श्री कृष्ण भगवान् ॥
ग्रंथ कहते है -
कृष्णपक्ष की अष्टमी, अर्द्धरात्रि बुधवार
कारागृह में कंस के, भयो कृष्ण अवतार
सिंह राशि के सूर्य है, उदित उच्च के चन्द्र
देवन दीन्ह दुंदुभि, तार मध्य स्वर बंध
वहीं पुराणों शास्त्रों की बाते लोक के कण्ठ से भी इसी सच को
लेकर वाणी से अभिव्यत होती है -
कृष्ण जनम लयो आधिरात भादो की रतिया।
कहीं लोक इस तरह कृष्ण उत्पत्ति को लेकर अभिव्यक्त करता है –

श्रीकृष्ण जन्म लयो भादो आष्टमी के दिना
कोन दिना जनम लयो, कौन दिना ठाणों,
कोन दिना धर्म कियो नंद को दुलारो।
कितने बजे जन्म लियो, कितने बजे ठाणों'
कितने बजे धर्म कियो नंद के दुलारो
12 बजे जन्म लियो, एक बजे ठाणो,
दो बजे धर्म कियो नंद को दुलारो।

जन्म के समय कैसी विपरीत परिस्थितियां रही और उन सबसे पार कर अपने कार्य में वासुदेव कैसे सफल रहे लोक के कण्ठ से मुखर होती है-

सकति ने ले लै अवतार हो भवानी
हाथन की हथकड़ियां लग गई, लग गई तौप जंजीर मेरी माँ
लग गई तोप ओ भवानी माँ
सकति ने ले . . . .
चंदन केवड़िया वे भी खुल गई
सो गये पहरेदार मेरी माँ
सकति ने ले . . . .
ले बालक वासुदेव चले वो मा
चल रहे मथुरा की गेल बो मेरी मा
सकति . . . .
रिम -झिम रिम -झिम मेंगा बरसे
जमुना चले गहराये मेरी माँ
सकति ने . . . . .
कृष्णा ने जमुना में चरण छुआ दये
जमुना उतर गई पार मेरी माँ
बालक सुला दये कन्या उठा दये
बासुदेव चल रहे गोकुल की गेल मेरी माँ
सकति ने . . . . . .।

श्रीमद भागवत महापुराण के दशम् स्कन्ध में भी पूरा यह लोकगीत के अनुसार ही देवकी व वासुदेव को कृष्ण चतुर्भुज स्वरूप दिखाते हैं और कहते हैं कि मुझे पुत्रवत स्वीकार करो –

"वसुदेव जी इस समय तुम मुझे गोकुल में नंद के यहाँ पहुंचा दो।
नन्द यशोदा कीन्ह तप, मोहि मिलन के काज।
देखन चाहें बाल सुख, लहे दरश मम आज ॥

वहाँ पर इसी काल मेरी योग माया ने कन्या के रूप में यशोदा के गर्भ से जन्म लिया है तुम उसे यहाँ पर ले आना। इतना कहकर उन्होंने बाल रूप धारण कर लिया तब वासुदेव जी बोले हे भगवान हमारे हाथपैरों में बेड़ियां जकड़ रही हैं। बन्दीगृह के विकट कपाट बन्द हैं बाहर कैसे पहेदार सजग होकर पहरा दे रहे हैं फिर मैं किस प्रकार बाहर निकल सकता हूँ? वसुदेव के इतना कहते ही उनकी समस्त हथकड़ी बेड़ी खुल गई और बन्दीगृह के कपाट भी खुल गये तथा पहरेदर अचेत होकर सो गए। भगवान श्री कृष्ण ने अपनी योग माया से द्वारपालों और नगर निवासियों को अचेत कर दिया सब के सब सो गए तब वसुदेव जी ने अति प्रसन्न होकर भगवान श्री कृष्ण चंद्र को एक सूप में रख लिया और गोकुल के लिए चल दिए।

हुआ क्या -

लेने को प्रभु के चरण , कालिन्दी उमगाइ।
जानि कष्ट वसुदेव प्रभु , दीन्हों चरण बढ़ाइ ॥
छू कर यदुपति के चरण , यमूना गई विलाय।
नन्द बाबा के धाम में , वसुदेव धँसे सिहाय।

लोक की वाचिक परम्परा में पुराणों का ज्ञान समाहित है पूरा का पूरा वृत्तांत इस गीत का श्रीमद्भागवत महापुराण में मिलता है।गणेश जी की उत्पत्ति पर लोक सीधी शास्त्रों में जिन कारणों से गणेश गजानन कहलाये उसकी अभिव्यक्ति करते हुए उनके जन्म नामकरण माता पिता का परिचयात्मक विवरण वाचिक परम्परा में इस तरह समाहित है-

शंकर जी के पुत्र गजानन पालनो में झूले
कोन मास उन्ने जनम लयो है
काहो नाम धराये गजानन पालनों में झूले
भादो मास उन्ने जनम लयो है
गणपति नाम धराये गजानन पालनों में झूले
कोन झूले कोन झुलावे कौन कौन मंगल गाये गजानन पालनों में झूलो ,
गोरा झूलावे गणपति झूले सखिया मंगल गाये गजानन पालनो में झूले
शंकर जी . . . . .

जीवन में जिया गया ज्ञान वाचिक परम्परा में है जो कुछ हमारे जीवन में है वो कथा , गीतों, आख्यानो, शिल्प ' समस्त लोक कलाओं में है। गीता भी पहले कही गई फिर लिखी गई। इसलिए लोक स्वयं प्रमाण है कि जो कुछ आया पहले लोक में आया होगा फिर शास्त्र में क्योंकि शास्त्र तो सीमित है परन्तु लोक व्यापक है। लोक में ऐसा कोई ज्ञान न छूटा हो जिसका ज्ञान लोक में न हो इसलिए लोक में हम और हममें लोक बसता है। असीम ज्ञान लोक में भरा पड़ा है। यदि हमने उसे संचित न रखा तो लोक का अमूल्य ज्ञान, अमूल्य धरोहर नष्ट हो जाएगी। हमें आवश्यकता है लोक की ओर लौटने की। लोकदृष्टि को विकसित करने, समझने व सम्मान करने की।

ग्रंथ सूची

- श्री रामनारायण दत्तजी श्री दुर्गाशत्याम सटीक गीताप्रेस गोरखपुर
- श्री रामनारायण दत्तजी श्री दुर्गाशत्याम सटीक गीताप्रेस गोरखपुर
- श्री रामनारायण दत्तजी श्री दुर्गाशत्याम सटीक गीताप्रेस गोरखपुर
- पं केवल कृष्ण शास्त्री, श्री भागवत् महापुराण, प्रदीप पब्लिशर्ज जालन्धर शहर सुखसागर
- गोस्वामी तुलसीदास, 'रामचारित मानस' गीता प्रेस गोरखपूर बालकाण्ड के प्रथम सोपान श्लोक संख्या 5
- वृहद्विष्णुपुराणीय मिथिला महात्म्य (सटीक) श्लोक संख्या-38
- पं केवल कृष्ण शास्त्री, श्री भागवत् महापुराण, प्रदीप पब्लिशर्ज जालन्धर शहर सुखसागर
- पं केवल कृष्ण शास्त्री, श्री भागवत् महापुराण, प्रदीप पब्लिशर्ज जालन्धर शहर सुखसागर
- पं केवल कृष्ण शास्त्री, श्री भागवत् महापुराण, प्रदीप पब्लिशर्ज जालन्धर शहर सुखसागर
- सूचक - रोखमा बाई - ग्राम गौरैया, जिला छिन्दवाड़ा (म.प्र.)